जड़मूलसे क्रान्ति

कि० घ० मशरूवाला

अनुवादक
रामचन्द्र बिल्लोरे

नवजीवन प्रकाशन मन्दिर
अहमदाबाद–१४

मुद्रक और प्रकाशक
जीवणजी डाह्याभाई देसाई
नवजीवन मुद्रणालय, अहमदाबाद-१४

पहली आवृत्ति ५०००, १९४९
पुनर्मुद्रण ३०००

रु० १ ५०   जून, १

प्यारे साथियोको

निवेदन

यह पुस्तक मैंने ९ अगस्त १९४७ से शुरू की। विचार तो मनमें भरे ही थे। अुनमें से कुछ अलग अलग लेखोंमें प्रकट भी हो चुके थे। मगर अिस तरह पुस्तकके रूपमें अुन्हें लिख डालनेका मेरा कोअी संकल्प नहीं था। पांचवी या छठी अगस्तको श्री शंकरराव देव वर्धा आये थे। अुनकी अिच्छासे देशके अनेक राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक वगैरा प्रश्नों पर चर्चा करनेके लिअे यहांके मुख्य मुख्य कार्यकर्ताओंकी अेक बैठक हुअी। अिस चर्चामें मैंने भी अपने कुछ विचार पेश किये। मगर पन्द्रह मिनटमें सारी बातें अच्छी तरहसे कह सकना मेरे लिअे संभव न था। अिसलिअे मैंने अुन्हें लिखनेका निश्चय किया और नवीं अगस्तसे यह काम शुरू हुआ। मेरा खयाल था कि अेकाध फार्मसे ज्यादा बड़ी पुस्तिका अिन विचारोंकी नहीं बनेगी। और अेकाध हफ्तेमें ही मैं अुसे समाप्त कर दूंगा। मगर यह तो मकड़ीके जालेकी तरह बढ़ती ही गअी और अेक खासी पुस्तक बन गअी। अिस तरह अिसका प्रथम लेखन २८ नवम्बर १९४७ को पूरा हुआ। तब तक तालीमके सम्बन्धमें अिसमें कुछ भी नहीं लिखा गया था। बादमें पूरी पुस्तककी जांच करते हुअे अिस विषय पर लिखनेकी बात मुझे सूझी और अिस तरह पुस्तकमें चौथा खंड बढ़ा। यह खंड बहुत कुछ फुटकर जैसा है। अिसमें विषयकी पूरी चर्चा नहीं की गअी है। ३० जनवरी १९४८ के हमेशा याद रहनेवाले दिन दोपहरके वक्त अिसका अन्तिम प्रकरण पूरा हुआ। तब मुझे क्या पता था कि अितिहासके तथाकथित ज्ञानसे होनेवाले अनिष्टके बारेमें मैंने जो बात अिसमें लिखी है अुसका सबूत अुसी दिन मिल जायगा! अुसी तरह २८-११-'४७ को अुपसंहार लिखते समय भी मुझे क्या पता था कि पं० जवाहरलालजी पर सारा भार डालकर गांधीजीको

अितनी जल्दी विदा होना पड़ेगा? कौन कह सकता है कि भविष्यके गर्भमें क्या छिपा है? परंतु अिस वज्रपात जैसी घटनाके बावजूद अुपसंहारके अन्तमें मैंने जो आशा प्रकट की है वह अभी भी कायम है। अितना सच है कि गांधीजीके रास्ते जाना शायद दूसरोंके लिअे भी जरूरी हो जाय। जिब्रानका अेक वचन है

"अगर हम केवल सत्य और नग्न सत्य ही पांच मिनट तक कहें, तो हमारे सारे मित्र हमें छोड़ देंगे, अगर दस मिनट तक कहें, तो हमें देशनिकाला दे दिया जायगा, और अगर पन्द्रह मिनट तक कहें, तो हमें फांसी दे दी जायगी।" (मिस बारबरा यंगकी 'दिस मैन फ्रॉम लेबेनॉन' में)

और तिस पर भी मानव-जाति और मानवता पर मेरी श्रद्धा है। और वह किसी अेक ही देश या कालके लोगों तक सीमित नहीं है। मैं कअी बार कह चुका हूं कि पूर्वकी संस्कृति और पश्चिमकी संस्कृति, हिन्दू संस्कृति और मुस्लिम संस्कृति वगैरा भेद मुझे महत्त्वपूर्ण नहीं मालूम होते। मानव-प्रजामें सिर्फ दो ही संस्कृतियां हैं भद्र संस्कृति और संत संस्कृति। दोनोंके प्रतिनिधि सारी दुनियामें हैं। जिस हद तक संत संस्कृतिके अुपासक निष्ठा और निर्भयतासे काम करेंगे, अुसी हद तक मानव-जातिके सुखकी मात्रा बढ़ेगी।

वर्धा, किशोरलाल मशरूवाला

९ फरवरी, १९४८

अनुक्रमणिका

पहला भाग

धर्म और समाज

दूसरा भाग

आर्थिक क्रान्तिके सवाल

तीसरा भाग

राजनीतिक क्रान्ति

चौथा भाग

तालीम

जड़मूलसे क्रान्ति

पहला भाग : धर्म और समाज

१

दो विकल्प

मैं लम्बे अरसेसे मानता आया हू और कअी वार कह भी चुका हू कि हमें अपने अनेक विचारो और मान्यताओको जडमूलसे सुधारनेकी जरूरत है। हमारे क्रान्ति-सम्बन्धी विचार ज्यादातर अूपरी सुधारो तक ही सीमित रहते हैं। मूल तक नही जाते। अिनमे से कुछ विचारोको यहा मैं व्यवस्थित रूपमें पेश करनेकी कोशिश करता हू।

सबसे पहले मैं अपने धार्मिक और सामाजिक रचना सम्बन्धी विचारोको लेता हू। हमें नीचे दिये हुअे दो विकल्पोमें से किसी अेकको निश्चित रूपसे अपना लेना चाहिये।

१ या तो श्री सजाना वगैरा टीकाकारोके मतानुसार हमे मान लेना चाहिये कि जाति-भावना अेक अैसा सस्कार और अैसी सस्था है, जो हिन्दू समाजमे से कभी मिट नही सकती। जातिहीन हिन्दू समाजकी रचना होना असम्भव है। अिसलिअे अिस हकीकतको मानकर ही हमें देशकी राजनीतिक तथा दूसरी व्यवस्थाओ पर विचार करना चाहिये। मनु आदि स्मृतिकारोने अैसा ही किया था। अुनकी कोशिश सबको अलग अलग रखकर अुनमे अेक तरहकी अेकता कायम करनेकी थी। हिन्दुस्तान पर मुसलमानोका आक्रमण होनेसे पहले अैसा करनेमें कोअी कठिनाअी नही हुअी। अिसके दो कारण थे अेक तो अुस समय देश अितना विशाल और समृद्ध था कि सबको अलग अलग रखकर अुन्हे जीनेकी सुविधा दी जा सकती थी। आजकी तरह वह जरूरतसे ज्यादा आबाद और शोषित नही था, और दूसरे, मुसलमानोके आनेसे पहले यहाके सभी देशी-विदेशी समाज अनेक देवी-देवताओ और यज्ञोकी

अुपासना करनेवाले थे। अिसलिअे पचास देवताओंके साथ अिक्कावनवें देवको मान्यता देने और अेक या दूसरे मुख्य देवमें अुसका किसी तरह समावेश कर लेनेमें ज्यादा कठिनाअी नहीं होती थी। तब देश अितना विशाल था कि सभी जातियां अपने अपने पाकिस्तान बनाकर रह सकती थीं।

अनेक देवोंकी अुपासना और जातिभेद अेक-दूसरेसे निकट सम्बन्ध रखते हैं। अनेक देवोंमें अेक ही देवको देखने और अनेक जातियोंमें अेक ही हिन्दू धर्म या सिर्फ चार ही वर्ण देखनेकी कोशिश बुद्धिका समाधान मात्र — मनको मना लेनेका प्रयत्न — है। व्यवहारमें अिस पर अमल होते नहीं देखा गया। बुद्धने अिस व्यवस्थाको जड़से ही बदलनेकी कोशिश की, मगर बौद्ध धर्ममें महायान पंथ कायम करके हिन्दुस्तानने बौद्ध धर्मको ही कमजोर बना डाला।

या तो यह मानकर कि यह चीज हमारे रोम-रोममें समाअी हुअी है, हम अिसमें से ही अपना रास्ता निकालनेका निश्चय करें। यानी, सामाजिक व्यवहारोंमें अेक-दूसरेसे दूर और अलग रहनेवाली अेक नहीं बल्कि अनेक छोटी छोटी जातियोंको हम अनिवार्य मानें और अिन सबकी आकांक्षाअें पूरी करनेके लिअे कअी तरहके पाकिस्तान, अलग अलग मतदाता-मंडल और संख्याके अनुसार प्रतिनिधि वगैरा बनायें।

अैसा हो ही नहीं सकता सो बात नहीं है। मगर हमें अिसके परिणामोंके लिअे भी तैयार रहना चाहिये। हमें समझ लेना चाहिये कि अैसा करनेसे देश ज्यादा ताकतवर और संगठित नहीं हो सकेगा और अुसे छोटे छोटे राज्योंमें टुकड़े टुकड़े होकर जीना पड़ेगा। अलावा अिसके, कुछ समय बाद तथाकथित अूंची जातियोंकी वैसी ही हालत हो सकती है, जैसी आज यहूदियोंकी हो रही है। नीची मानी जानेवाली जातियां आगे पीछे अिस्लाम या अीसाअी धर्म स्वीकार कर लेनेमें ही अपना फायदा देखेंगी। अूंची जातियां अगर राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा छोड़कर अपने बुद्धिबलसे सिर्फ कुछ बड़ी बड़ी नौकरियां करने और व्यापार करनेमें ही सन्तोष मानेंगी, तो सुखसे जी सकेंगी और अुनके अलग अलग चौका और देवपूजाओंमें अुन्हें कोअी हैरान करने नहीं आयेगा। अिस

तरह अीरान, अफगानिस्तान आदि देशोंमें आज भी कअी हिन्दू रहते हैं अुसी तरह वे रहेंगे और अगर वे अैसा नहीं करेंगे तो यहूदियोंकी तरह अपमानित होकर अुन्हें जहां-तहां भटकना होगा। जैसे जैसे नीची जातियां जाग्रत होती जायंगी वैसे वैसे अपने अूंचेपनका अभिमान रखनेवाले लोगोंको पीछे हटना ही होगा।

अथवा, अूंची जातियोंके लिअे अेक दूसरा रास्ता भी रहेगा। वह यह कि जबरदस्त कोशिश करके वे अपनी अेक फासिस्ट सत्ता बनायें और दूसरी सब जातियां, धर्मों वर्गोंको दबाकर अपनी त्रिवर्णशाही कायम करें। मैं मानता हूं कि दिलकी गहराअीमें अैसी वृत्ति रखनेवाला वर्ग हमारे बीचमें मौजूद है। राजाओं, ब्राह्मण पण्डितों, व्यापारियों और बड़े किसानोंका अगर बस चले तो वे अैसा जरूर करें।

जो लोग अिस विकल्पको पसन्द करके वैसा हिन्दुस्तान बनानेके लिअे तैयार हैं, अुनका रास्ता अिस तरह साफ है। वे अिस मकसदको सामने रखकर दूसरी किसी बातका विचार किये बिना अपना काम कर सकते हैं।

२ मगर जिन्हें यह विकल्प और अुसके परिणामों पर पहुंचना मंजूर न हो, अुनके लिअे यह जरूरी है कि वे दूसरे मार्गका अुतनी ही दृढ़ताके साथ निश्चय करें और अुसके अुपायोंमें दृढ़ताके साथ लग जायं। वह मार्ग यह है: अपने खूनमें से जाति-भावनाके संस्कारको और समाजमें से जातिसंस्थाको नष्ट करना, और अैसी क्रान्ति निर्माण करना कि सारी भारतीय जनता अपनेको अेक अखण्ड और समान दरजेवाली मानव-जाति मानने लगे और अुसी तरह व्यवहार करने लगे।

अैसी क्रान्ति लानेके लिअे क्या करना लाजमी है, अिस पर हम अब विचार करेंगे।

९-८-'४७

२

धार्मिक क्रान्तिका सवाल

बरसोंसे मैं कहता आया हूँ और मेरी यह मान्यता ज्यादा ज्यादा मजबूत होती जाती है कि आजका अेक भी धर्म — हिन्दू, मुसलमान, अीसाओी, सिक्ख, बौद्ध, जैन वगैरा — मानव-समाजकी मौजूदा समस्याओंका हल करने लायक नहीं रहा। सभी धर्म बेजान बन गये हैं, और किसीका अुसके मूल रूपमें जीर्णोद्धार करने पर भी वह आजकी समस्याओंका हल नहीं कर सकता। अिस मामलेमें हिन्दू धर्म सबसे ज्यादा बेजान और भ्रमोंको दूर करनेमें असमर्थ है।

मेरा विश्वास है कि मनुष्यके जीवन या समाजकी रचनामें और व्यवहारमें जड़मूलसे क्रान्ति करनी हो, तो सबसे पहले अुसकी धार्मिक मान्यताओंमें परिवर्तन करनेकी जरूरत है। अगर आप किसी व्यक्तिको अैसी सामाजिक रूढ़ियाँ तोड़नेके लिअे कहें, जो लगभग धार्मिक रूढ़ियों जैसी लगती हों, तो वह अपने पुराने धर्मसे चिपके रहकर अैसा नहीं कर सकेगा। पर मुसलमान या अीसाओी बन जाने पर, या किसी नये गुरु अथवा सम्प्रदायका शिष्य हो जाने पर वह दूसरे ही क्षण पुराने विचार और बन्धनोंको तोड़ डालनेमें समर्थ हो जाता है। पुराने सनातन धर्म पर जिस हद तक हमारी अश्रद्धा हुअी है, अुसी हद तक हम भी अस्पृश्यता-निवारण, सहभोजन, अन्तर्जातीय, अन्तर्प्रान्तीय या अन्तर्धार्मिक विवाह वगैराके लिअे तैयार हो सके हैं। और जिस हद तक हमारी मान्यताअें अुन पुरानी रूढ़ियोंके रौबमें ही पड़ी रहती हैं, अुस हद तक हम साम्प्रदायिक अेकता पैदा करने वगैराके बारेमें तथा दूसरे बहुतसे सामाजिक और आर्थिक परिवर्तन करनेके बारेमें मजबूत कदम नहीं अुठा सकते। सिर्फ सर्वधर्म-समभाव या सर्ववर्ण-समभावकी भावना रखकर यह कहना कि मैं हिन्दू होते हुअे मुसलमान भी हूँ, अीसाओी भी हूँ, ब्राह्मण होते हुअे भंगी हूँ, राजनीतिज्ञ होते हुअे भी बुनकर या किसान हूँ — सिर्फ

अूपरी कोशिश मात्र है। यही आदमी अगर सचमुच मुसलमान या अीसाअी बन जाय, या भंगिनसे शादी करके भंगीका धन्धा करने लगे, तब अुसे 'जूता कहां काटता है' अिस बातका जो अनुभव होगा वह हमें नहीं हो सकता। हमारी सारी कोशिश अपने हिन्दुत्व, ब्राह्मणत्व वगैराको सुरक्षित रखकर दूसरोंके साथ मेल बैठानेकी होती है। वे हिन्दू नहीं हैं और ब्राह्मण नहीं हैं, यह भावना हमारे दिमागसे दूर नहीं हो सकती।

अेक दिन नागपुर जेलमें मेरे अेक साथी श्री बाबाजी मोघे पिछड़ी हुअी जातियोंकी सेवा और अुनके अुद्धारके बारेमें मुझसे चर्चा कर रहे थे। चर्चाके दौरानमें अुनके मुंहसे मराठीमें नीचे लिखे आशयका वाक्य निकल पड़ा "कअी बार अैसा लगता है कि अिन लोगोंके वहमों और अंधश्रद्धाओंको दूर करनेके लिअे अिन्हें मुसलमान हो जानेकी सलाह देनी चाहिये!" श्री बाबाजीके मुंहसे यह विचार निकलना बहुत सोचने जैसी बात है। अिसका मतलब यह हुआ कि अुनको यह विश्वास हो गया है कि हिन्दू धर्मके बजाय अिस्लाममें वहमों और अन्धश्रद्धाओंको हटानेकी शक्ति ज्यादा है। और यह बात बहुत हद तक सच भी है। लेकिन यह भी समस्याका सच्चा हल नहीं है। क्योंकि अिस्लाम भी भ्रमों, वहमों, अन्धश्रद्धाओं और संकुचिततासे परे नहीं है और न मानव-जातिकी आजकी समस्याओंको हल करनेमें समर्थ है। साथ ही पूरे कुरानको जैसेका तैसा स्वीकार नहीं किया जा सकता। अगर हम खुद अिस्लाम स्वीकार करनेके लिअे तैयार नहीं हों, तो किसी दूसरेको यह सलाह कैसे दे सकते हैं? और अिस्लाममें सरलता और सीधी दृष्टिके होते हुअे भी बहुतसी अैसी बातें हैं, जिन्हें हमारी विवेक-बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती। यही हाल अीसाअी, पारसी वगैरा धर्मोंका है।

हम, हिन्दू लोग, जिन्दगीभर अेक विचित्र प्रकारकी बौद्धिक कसरत करनेके आदी हो गये हैं। अेक तरफसे हमारी फिलसूफी ठेठ अद्वैत वेदांतकी है। अिस लीकमें बुद्धिको रखकर जब हम विचार करते हैं, तो दुनिया झूठी, देव झूठे, गुरु-शिष्य झूठे, विधि-निषेध झूठे, पाप-पुण्य झूठे, नीति-अनीति, हिंसा-अहिंसा, सत्य-झूठ सबको झूठे कहनेकी हद तक पहुंच जाते हैं। और अिससे निकलकर जब दूसरी लीक पर चलते हैं, तो

गोत्रदेवता, ग्रामदेवता, गुरुदेवता, पितृपूजा, गृहपूजा, अवतार-भक्ति, अलग अलग त्योहारोंकी अलग अलग देवपूजा, श्रुति – स्मृति – पुराण – आगम – निगम – मंत्र – तंत्र – कुरान – बाअिबल वगैरा सबका समर्थन करने लगते हैं। अिसमें हमें दूसरे मतोंके प्रति सहिष्णुता या रवादारी रखनेभरसे सन्तोष नहीं होता। हम सर्वमत-समभाव — और काकासाहब कालेलकरकी भाषामें तो सर्वमत-ममभाव — तक पहुंचते हैं। अनेक देवताओंवाले समाजका अनेक जातियों और छोटे छोटे भौगोलिक विभागोंमें बंटे रहना स्वाभाविक है। काफी विचार करनेके बाद मैंने महसूस किया है कि हमारे समभाव या ममभावका मतलब 'श्रद्धालु नास्तिकता' के सिवा और कुछ नहीं है। किसी चीजके अस्तित्वमें भले हमारी श्रद्धा न हो, हम अुसे चाहे मनुष्यकी कोरी कल्पना या गैरकुदरती चीज मानते हों, फिर भी अुसके छोड़नेमें डर या अुसकी परंपराको जारी रखने या कलाकी कदर करनेके लिअे अुसे पकड़ रखनेका मोह ही हमारी अुपासनाका स्वरूप हो गया है। अिसमें न तो सत्यकी अुपासना है, न निष्ठाकी सरलता और अनन्यता है।

अगर हमें हिन्दू समाजको और हिन्दू जनताको अूपर अुठाना है, तो नीचे दिये हुअे सिद्धान्तोंको स्वीकार करनेका साहस हमें करना ही चाहिये

१ अेक सब जगह फैले हुअे (सर्वव्यापक), सब पर काबू रखनेवाले (सर्वनियंता) परमात्माके सिवा दूसरे किसी देव, ग्रह, पितृ, अवतार, गुरु वगैराकी या अुनकी मूर्तिकी या प्रतीककी अुपासना, पूजा, मन्दिर-स्थापना वगैरा न की जाय। और अिस बातका आग्रह रखा जाय कि किसी नामरूपात्मक सत्त्वे या काल्पनिक सत्त्वको अीश्वरकी बराबरीमें या अुसके साथ नहीं बैठाया जा सकता।

२ कोअी भी शास्त्र — वेद, गीता, कुरान या बाअिबल भी — अीश्वरके बनाये हुअे या अीश्वरकी वाणी नहीं है। किसी ग्रन्थको अिस तरह प्रमाणरूप न माना जाय कि अुसके वचनोंको अपनी विवेक-बुद्धि पर कसा ही न जा सके।

३ किसी मनुष्यको अीश्वर या पैगम्बर (परमेश्वरका खास भेजा हुआ सदेशवाहक) की कोटिमें न रखा जाय। किसीको अस्खलनशील, यानी जिसके विचार या वरतावमें भूल हो ही नहीं सकती अैसा, न माना जाय। और अिसने अुनका हरअेक काम शुद्ध, दिव्य और श्रवण तथा कीर्तनके लायक ही है अैसा न समझा जाय। सामान्य जनताके हितकी दृष्टिसे रखकर सदाचारके जो कमसे कम नियम ठीक समझे जाते हों, अुन्हें तोडनेका अधिकार किसीका न माना जाय, और किसी व्यक्तिकी विशेष पवित्रताके कारण तो अुसका यह अधिकार हरगिज न माना जाय। बुरी वृत्तिके लोग तो सदाचारके नियमोंका भंग करेंगे ही। जिसके लिअे समाज अपने ढंगसे अिन्हें रोकेगा और अैसे लोगोंको सजा भी देगा। शुद्ध वृत्तिके लोग अिन नियमोंका ज्यादा सावधानीसे पालन करेंगे और अुनकी सीमाको लांघनेकी अिच्छा तक न करेंगे। अिसलिअे अगर महात्मा पुरुषोंने समाजके हितके खिलाफ आचरण किये हों, तो अुन्हें ढाकनेकी कोशिश न की जाय, बल्कि यह साफ कहा जाय कि वे अुनकी कमजोरियां ही थीं। अिसलिअे अैसे चरित्रोंकी प्रशंसामें पद, भजन, वगैरा न बनाये जायं। अुनका कीर्तन न किया जाय और न साहित्यमें अैसी अुपमाओं, रूपक वगैरा अलंकारोंका अुपयोग किया जाय। जैसे कि कृष्णकी शृंगार-लीला आदि।

४ अन्तमें, वही समाज और वही परिवार पीढी-दर-पीढी तरक्की करता और सुख पाता है, जो आलस्यसे मुक्त होता है, कंचन-कामिनीके बारेमें नियताचारसे (परहेजके साथ) काम करता है और आहार तथा स्वच्छताके नियमोंका पालन करता है। राजनीतिके साम-दाम आदि अुपाय, धर्मके व्रत-तप और अुपासना, समाजके विवाह और विरासतके नियम, आर्थिक रचना और लेनदेनके कायदे — सबका आखिरी मकसद यही होना चाहिये कि वे प्रजाको निरलस (आलस न करनेवाली, मेहनती), नियताचारी (परहेजसे रहनेवाली), तन्दुरुस्त और पवित्र जीवन बितानेवाली बनानेके लिअे सहूलियतें पैदा करें। यही धर्मकी बुनियाद है। अिन गुणोंके पोषक नियमों, संस्थाओं और परिस्थितियोंका निर्माण करना और अुनसे सम्बन्ध रखनेवाले सत्योंकी खोजना ही

सारी प्रवृत्तियोंका अुद्देश्य होना चाहिये। अिस तरहके नियमोंका पालन करनेसे ही पिछड़ी हुआी जातियां आगे आवेंगी और अुनमें से भी जितने व्यक्ति जितनी पीढ़ियों तक अुनका पालन करेंगे अुतने ही वे अूंचे अुठेंगे। भूतकालमें अिन नियमोंका भंग करनेसे ही आगे बढ़ी हुआी जातियोंका पतन हुआ है। जिन पीढ़ियोंमें ये गुण बने रहेंगे अुनकी दुर्दशा नहीं होगी।

५. बुद्धने कहा था : **बुद्ध शरण गच्छामि, धर्म शरण गच्छामि, संघ शरण गच्छामि।** मैं यों कहूंगा कि अेक परमेश्वरका आश्रय (विश्वास) रखो, धर्मका आश्रय (पालन) करो, और दूसरे लोगोंके सदाचार — धर्मयुक्त आचरण — का आश्रय (आधार-प्रमाण) लो। परमेश्वरके सिवा दूसरे किसी देव-देवता-दैवतका आश्रय न लिया जाय। किसी भी पैदा हुअे या काल्पनिक गुरु, माता या पिता या दूसरे पूज्य व्यक्ति या प्राणियोंको परमेश्वर या परमेश्वरके द्वारा भेजे हुअे या अुनसे खास प्रेरणा पाये हुअे न समझा जाय, अुसका आचरण न किया जाय, और किसी भी व्यक्तिके (वह चाहे जितना बड़ा हो) जैसे आचार, जिनके ठीक होनेमें सन्देह हो, प्रमाण न माने जायं और न अुनका बचाव किया जाय।

जिस बात पर हमें विचार करना है वह यह है कि हम हिन्दू धर्मका सिर्फ सुधार करना चाहते हैं, या मानव-धर्मका नया संस्करण करके हिन्दू समाजमें क्रान्ति करना चाहते हैं।

१०/११-८-'४७

३

क्रान्तिकी कठिनाअियां

पिछले परिच्छेदमें प्रगट किये गये विचारोंके रास्तेमें जो बहुतसी बडी बडी कठिनाअियां हैं, अुन पर भी विचार कर लेनेकी जरूरत है।

पहले तो पिछले परिच्छेदके अन्तमें दिये हुअे पांच प्रतिपादनोंके सत्य और योग्य होनेके बारेमें हमें खुद विश्वास होना आसान नहीं है। कुछ लोगोंको अिसमें 'तत्त्वमसि' आदि महावाक्योंका निषेध मालूम होगा, कुछको अपनी मर्जीके मुताबिक अुपासना करनेकी आजादी पर आघात होता जान पडेगा, कुछको विविधतामें अेकता देखनेकी अुदार दृष्टिका विरोध दिखाअी देगा, सगुण-निर्गुण, अद्वैत-सिद्धि, समदृष्टि आदिकी अनेक आपत्तियां पेश की जावेंगी। हमें अिन सारी बातोंका खुलासा करना होगा और अुन्हें लोगोंको समझाना होगा।

मान लीजिये कि लोगोंको समझानेमें हम सफल हो जाते हैं, तो बादमें आचारकी कठिनाअियां खडी होंगी। हजारों अलमारियां भर जायं अितना विशाल हमारा देव-गुरु-पूजा और भक्तिका साहित्य, पूजा और यज्ञोंकी लुभावनी विधियां, हजारों मन्दिर, अुनकी अपार सम्पत्ति वगैराका विसर्जन करनेके लिअे कहनेकी यह बात है। अिन सबके प्रति रहनेवाला मोह, अिन पर रहनेवाली हमारी श्रद्धा, कला और सुन्दरताकी भावना कैसे छूट सकती है? यह बात अपने हाथों अपने शरीरकी चमडी अुतारने जैसी कठिन है। पं० जवाहरलाल जैसे बुद्धिसे अीश्वरके बारेमें नास्तिक भाव रखनेवाले व्यक्तिको भी कमला नेहरू अस्पतालके शिलारोपण-मुहूर्तके समय और अिन्दिराकी शादीमें सारे वैदिक कर्मकाण्ड करानेमें रस मालूम हुआ। मक्काकी मस्जिदमें से ३६० देवताओंको हटाते वक्त मुहम्मद साहबको जितनी कठिनाअी हुअी होगी, अुससे हजार गुनी कठिनाअी अिस काममें है।

फिर भी जब मनुष्यकी धर्म बदलनेमें श्रद्धा होती है, तब अैसा करनेकी ताकत अुसमें आ जाती है।

मगर यह तो जब हो तबकी बात रही। सबसे पहले अैसे विचारोंके प्रचारकको यह समझ लेना चाहिये कि अिससे जबरदस्त सामाजिक कलह पैदा हो सकता है। अीशुके कहे मुताबिक अिसमें मा-बाप और लडकोंके बीच, पति-पत्नीके बीच, भाअी-भाअीके बीच झगडा हो सकता है। क्रान्तिकारी भले अहिंसक रहे, क्षमाभावसे सब-कुछ सहता रहे, मगर स्वार्थको धक्का लगनेके कारण या प्रचलित मान्यताकी सचाअीमें जबरदस्त श्रद्धा होनेके कारण जिसके गले यह बात न अुतरे, अुसके बारेमें यह विश्वासपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि वह भी अहिंसक तरीकेसे ही विरोध करेगा। बौद्ध, अिस्लाम, अीसाअी या हमारे देशके सामान्य क्रान्तिकारी सम्प्रदाय चलानेवालोंको जैसे अत्याचारों और मुसीबतोंका सामना करना पडा वैसे ही अिसे भी करना पड सकता है।

यह कडवा घूट तभी गलेसे नीचे अुतर सकता है, जब यह समझ लिया जाय कि क्रान्तिकारीकी किस्मतमें यह चीज लिखी ही होती है।

मगर अितनेसे ही कठिनाअियोंका अन्त नहीं हो जाता। सारी कठिनाअियोंका सामना करनेके बाद भी यह योजना हिन्दुस्तानमें कभी सफल हो सकती है या नहीं, अिसमें शंका की जा सकती है।

बौद्ध धर्मको किस तरह तिलांजलि मिली, अिसे सब कोअी जानते हैं। अीसाअी और अिस्लाम धर्मका कोअी बहुत प्रचार हुआ हो अैसा नहीं कहा जा सकता, और हिन्दू धर्मके सहवासमें अुनका स्वरूप भी थोडा-बहुत हिन्दू-धर्म-मिश्रित बन गया है। खोजा वगैरा सम्प्रदायोंको तो अेक किस्मके मिश्र सम्प्रदाय ही कहा जा सकता है। सभी धर्मोंके अेक प्रकारके महायान स्वरूप बन गये हैं। सिक्ख-धर्मकी भी यही हालत हुअी। यह जात-पातके भेदोंसे भरा हुआ हिन्दू धर्मका ही अेक पंथ है। कबीर वगैराकी कोशिशें छोटे छोटे पंथ बनकर रह गअीं — और वे भी अुनके शुद्ध रूपमें नहीं। हिन्दू धर्म अैसा महान समुद्र है कि सैकडों मीठे पानीकी नदियां भी अुनके खारेपनको दूर नहीं कर सकतीं, अुलटे मुख पर पहुंचकर खुद ही खारी हो जाती हैं, और मुंहसे यह आश्चर्य-वाक्य बरबस निकल पडता है 'सब नदियां जल भरि भरि रहियां, सागर किस विध खारी?'

अिस क्रान्तिके परिणाम-स्वरूप अगर अैसा अेक छोटासा नया पंथ ही बनकर रह जाय, तो ज्यादा समझदारी अिसीमें होगी कि जैसा चल रहा है वैसा ही चलने दिया जाय और छोटे-मोटे सुधारों तक ही अपना ध्येय सीमित रखा जाय।

मगर अैसा माननेवालेको दूसरे धर्मोंके प्रति सहिष्णुताकी वृत्ति रखकर ही सन्तुष्ट हो जाना चाहिये। अुसे न तो सर्वधर्म-समभाव या समभाव जैसे बड़े बड़े सूत्र पेश करने चाहिये, न दूसरे धर्मवालोंसे अुनकी अपेक्षा रखनी चाहिये। अलग अलग धर्मोंके थोड़े वाक्य लेकर अुनका पाठ करके मिश्र अुपासना करनेकी भी कोशिश न की जाय। अिनकी जरूरत ही नहीं है। अुसे कमसे कम अितना जरूर करना चाहिये — अेक देव, अेक गुरु, अेक शास्त्रका आसरा लिया जाय और दूसरेके झगड़ेमें न पड़ा जाय। 'अेको देव: केशवो वा शिवो वा।' 'अेक गुरुका आसरा, अेक गुरुसे आस।' 'चाहे काअू गारे कहो, चाहे कोअू कारे, हम तो अेक सहजानंद रूपके मतवारे।' — अैसी वृत्ति अुसे रखनी चाहिये। दूसरे मतका स्वीकार नहीं तो निन्दा भी नहीं, जिसे जो अच्छा लगे वह अुसीको माने, मुझे यह अच्छा लगता है, अितना काफी है।

मेरा खयाल है कि वैष्णवाचार्योंकी यह अनन्य अुपासनाकी विचारसरणी सनातनी मिश्र अुपासनासे ज्यादा अच्छी है।

अिनकी मर्यादायें भी समझ लेनी चाहिये। अिसके साथ किसी न किसी रूपमें जाति-संस्थाकी जड़ें रहेंगी ही। जाति-भावनासे रहित समाज कभी कायम ही नहीं किया जा सकेगा। ज्यादासे ज्यादा अिसका अेक शिथिल और बड़ी शक्ति न रखनेवाले संघके रूपमें ही अेकीकरण हो सकता है। जो लोग बहुत बलवान केन्द्रीय सत्तामें विश्वास नहीं करते — और बापूजीकी अैसे लोगोंमें गिनती की जा सकती है — अुनकी दृष्टिसे अिसे अिष्टापत्ति कहा जायगा। लेकिन तब जात-पात तोड़नेकी बात छोड़ देनी चाहिये। आजकी जातियां तोड़कर नअी जातियां बनानेकी बात भले कहें, मगर यह मानकर चलना चाहिये कि हिन्दू समाज किसी न किसी तरहकी जाति-व्यवस्था बनाकर ही

रहेगा। और अुस हालतमें किसी न किसी प्रकारके धर्म और जाति-भेदके आधार पर बने हुअे राजनीतिक पक्ष और प्रतिनिधित्वको स्वीकार भी करना पड़ेगा और किसी न किसी तरहके पाकिस्तानके लिअे भी तैयार रहना पड़ेगा।

अिसलिअे जैसा कि शुरूमें कहा गया है, हमें दो विकल्पोंमें से अेकको स्थिर चित्तसे स्वीकार कर लेना चाहिये। अगर पहले विकल्पको स्वीकार करना है तो दूसरेसे पैदा होनेवाले फल नहीं मिलेंगे, और दूसरेके फलोंकी अिच्छा रखते हों तो पहलेकी रक्षा नहीं कर सकते।

हिन्दू समाज और हमारे जैसे सेवा करनेकी अिच्छा रखनेवालोंको अिस पर विचार करके जो अुचित हो अुसे स्वीकार करनेका फैसला करना चाहिये, और अुसमें फिर डावाँडोल वृत्ति नहीं रखनी चाहिये।

१२-८-’४७

४

पहला प्रतिपादन

अिस परिच्छेदमें जो पाँच प्रतिपादन पेश किये गये हैं, अुन्हें माना जा सकता है या नहीं, अिस पर मैं यहाँ विचार करना चाहता हूँ।

पहला प्रतिपादन

मानो परमात्मा अेक केवल।
न मानो देव-देवता-प्रतिमा सकल॥
न मानो कोअी अवतार-गुरु-पैगम्बर॥
मानो ज्ञानी विवेकदर्शी केवल
सब सद्गुरु-बुद्ध-तीर्थंकर।
न कोअी सकल सम्यक्त्वशील।
भले अूँचा रहबर॥*

* चाहे वह कितना ही अूँचा मार्गदर्शक क्यों न हो।

जो भगवानके अस्तित्वमें ही विश्वास नही करते या जो अुसके सहारेकी जरूरत ही नही समझते, अुनके बारेमें यहा विचार करनेकी जरूरत नही है। क्योकि अुन्हे तो 'मानो परमात्मा अेक केवल' के सिवा बाकीके सब प्रतिपादन मान्य ही रहेगे। मगर जो लोग भगवानको मानते है, अुन्हे बाकीके चरण मान्य रहेगें ही अैसी बात नही है। क्योकि अिन्हे माननेमें धार्मिक क्रान्ति — धर्मान्तिर जैसी बात होती है।

१ सर्वं खल्विद ब्रह्म, २ तत्त्वमसि, ३ अयमात्मा ब्रह्म, ४ सोऽहम्, ५ शिवोऽहम्, ६ तद्ब्रह्म निष्कलमहम्, ७ वासुदेव सर्वम्, ८ गुरु साक्षात् परब्रह्म, ९ यदा यदा हि धर्मस्य सम्भवामि युगे युगे, १० सिद्ध, ११ सर्वज्ञ, १२ तथागत, १३ अीश्वर-प्रेषित, १४ अीश्वर-पुत्र आदि विचारोका अिसमे विरोध होता जान पडता है।

विचार करने पर मालूम होगा कि अिनमे से आठ वाक्य अेक-देशीय सत्य है, यानी अमुक क्षेत्रमें अथवा मर्यादित अर्थमें ही सत्य है, अुस क्षेत्रसे बाहर अुन्हे लागू करने जाय तो वे भुलावेमे डालते है और भ्रम पैदा करते है। अैसा भ्रम काफी हद तक पैदा हो भी चुका है।

सत्यपि भेदाऽपगमे नाथ तवाऽहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्ग क्वचन समुद्रो न तारङ्ग ॥*
आदमको खुदा मत कहो, आदम खुदा नही।
मगर खुदाके नूरसे, आदम जुदा नही॥

आदि वचन अूपरके वाक्योको गौण करनेवाले (modifiers और correctives) है, और यह गौणता अवतार-सद्गुरु-सिद्ध-पैगम्बर आदि पदोका अपनेमे आरोपण करनेवाले या अैसी भावना रखनेवाले व्यक्तियो और अुनके अनुयायियो दोनोको याद रखनी चाहिये। अूचेसे अूचे 'अवतार', 'ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरु', 'सिद्ध', 'बुद्ध' वगैराका स्थान भी भगवानसे गौण है। अेक बडा फर्क तो ब्रह्मसूत्रकारने ही बतला दिया है। मनुष्य चाहे जितना बडा योगीश्वर, विज्ञानवेत्ता, सिद्ध, विभूतिमान और प्रकृतिके तत्त्वो पर नियन्त्रण रखनेवाला हो, वह सारे

---

* भेदबुद्धि मिटनेके बाद भी हे नाथ, मैं तेरा हू, न कि तू मेरा है। तरग समुद्रकी है, समुद्र तरगका नही है।

संसारका नियंत्रण — अुत्पत्ति-स्थिति-लय — नहीं कर सकता। संसारकी शक्तियोंके अधीन अुसे रहना ही पड़ता है। अिसके सिवा, वह ब्रह्मकी सारी शक्तियोंको अेक ही बारमें अपने भीतर प्रगट नहीं कर सकता। अुसकी सगुणता कभी सर्वगुणता नहीं हो सकती, वह हमेशा अधूरी ही रहती है। सुअी और कुल्हाड़ी दोनों लोहेसे बनी होती हैं, फिर भी जिस तरह सुअीके रूपमें रहनेवाला लोहा कुल्हाड़ीकी ताकत नहीं दिखला सकता और कुल्हाड़ीके रूपमें रहनेवाला लोहा सुअीकी ताकत नहीं दिखला सकता, अुसी तरह मनुष्य चाहे आध्यात्मिक अूँचाअीकी आखिरी हद तक पहुँचा हुआ हो, फिर भी मानवके रूपमें रहनेवाला ब्रह्म अमानव रूपमें रहनेवाले ब्रह्मकी शक्तियाँ प्रकट नहीं कर सकता। और जब वह अेक प्रकारकी शक्ति प्रकट करता है तब दूसरे प्रकारकी शक्ति गायब हो जाती है। गीताकार जैसे भव्य कल्पना करनेवाले कविका विराट् पुरुष भी सिर्फ अपनी भयंकर, कालरूप विभूतियोंका ही दर्शन कराता है। पर वास्तविक संसारमें तो जिस वक्त भयंकर संहार चल रहा होता है, घोर अनर्थ और हिंसाका साम्राज्य फैला होता है, अुसी वक्त सुन्दरता, दया, प्रेम आदिका सर्जन और पोषण भी होता रहता है। अिसलिअे अिस्लाम और यहूदी धर्मके अिस आग्रहमें काफी औचित्य है कि चाहे जैसी ज्ञानदशा, शुद्धता या योगसिद्धिकी अूँचाअी तक पहुँचा हुआ व्यक्ति हो, अुसे साक्षात् परब्रह्मकी बराबरीमें न बैठाया जाय। हिन्दुओंको यह सत्य मानना और अिसकी विरोधी मान्यताओंको छोड़ना ही पड़ेगा। अिस तरह शुद्ध और साधारण अीश्वर-वाचक नामोंकी बराबरीमें देव, देवी, अवतार, गुरु, सन्त वगैराके नाम लेना और अुनके गीत गाना ठीक नहीं है। और जो मनुष्य अिसमें दोष देखता है वह अगर अिसमें भाग लेनेसे अिनकार करे, तो अुस पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि अुसमें सर्वधर्म-समभावका अभाव है। अिसे वैसा ही समझना चाहिये जैसे अहिंसा-धर्मको माननेवाला व्यक्ति पशुयज्ञोंमें या अैसी पूजा-विधियोंमें शामिल होनेसे अिनकार करे, जिनमें मांस, शराब वगैराका भोग लगाया जाता है।

बात यह है कि हिन्दुओंमे ओीश्वर-वाचक अथवा गुणवाचक शब्द मनुष्योंके नाम रखनेमे भी काममे लिये जाते है। दूसरे धर्मोमे किसी मनुष्यका नाम अल्लाह, खुदा या गॉड नही रखा जाता। हिन्दुओमें ओीश्वर, भगवान, राम, कृष्ण, शकर, गोविन्द, गोपाल जैसे नाम हो सकते हैं। जिसके साथ अवतारवादकी मान्यता भी प्रचलित होनेके कारण यह निश्चित करना कठिन होता है कि अवतार-रूप माने गये पुरुषको भगवद्वाचक नाम दिया गया है अथवा भगवानके अनन्त नामोमे से अेक नाम अुस पुरुषका था। 'रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीता-राम' बोले तब अवतारमें श्रद्धा रखनेवाला कहेगा कि यह दशरथ-पुत्रके रूपमे अवतरित रामका स्मरण है। सुधारक या ज्ञानी कहेगा कि अिसका अयोध्याके रामके साथ कोअी सम्बन्ध नहीं है, अिस नामसे हमे केवल परमेश्वरको ही समझना चाहिये। अिसलिअे सरल मनका विधर्मी सोचता है कि जिन नामके विषयमे हिन्दू लोगोंमे ही मतभेद है अुस नामको में अल्लाह या ओीश्वरके नामके साथ लेनेकी झझटमे नहीं पडूगा। अिसलिअे मुझे राम, कृष्ण, शिव जैसे निश्चित आकार और चरित्र सूचित करनेवाले खास नामोकी जरूरत नही है। मै अपनी अुपासनाको अिस प्रकार गडबडवाली नही बनाना चाहता। 'निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाअी, अेकनाथ, नामदेव, तुकाराम' जिस प्रकार सतोकी नामावली समझी जाती है, अुसी प्रकार यदि 'राम, कृष्ण, नरसिंह, शकर' जैसे अवतारी पुरुषोके अथवा स्त्रियोंके नामोकी धुन कभी कभी समझपूर्वक गायी जाय तो वह अलग बात होगी। परन्तु परमात्मा, ओीश्वर, भगवान जैसे नामोके साथ, जो व्यक्तिवाचक नाम नहीं है, अुसे रखनेमे मेरा मन शकामें पड जाता है।

अिसका यह मतलब नही कि यहा सगुण अुपासनाका निषेध किया जा रहा है, या महापुरुषोंके लिअे आदरभाव, भक्तिभाव रखने या अुनके अच्छे गुणोका गान करनेकी भी बिलकुल मनाही की जा रही है। यह निर्गुण अुपासना नहीं है। यहूदी और अिस्लाम धर्ममें ओीश्वर पर आकारका आरोपण करनेकी मनाही है, मगर यह निर्गुण अुपासना नही, रामानुजकी भाषामें कहे तो यह 'सकल कल्याणकारी

गुणा' का आरोपण करनेवाली सगुण अुपासना है। रहीम, रहमान, मालिक, रब, सबको पैदा करनेवाला, करुणा-सागर, भक्त-वत्सल, सन्मार्गदर्शक, सर्व-शक्तिमान, नियामक आदि गुणोंका आरोपण अिन्हें भी मान्य है। मगर रामानुजने अिनके साथ लक्ष्मी-नारायण आदि साकार मूर्तियोंकी भी कल्पना की है। अैसी कल्पनाका अिन्होंने त्याग किया है।

वेदान्तमें निर्गुण और निराकार शब्दोंने बड़ी गड़बड़ी पैदा कर दी है। अुचित शब्द ये होते — सर्वगुणबीज, सर्वगुणाश्रय, सर्वनामरूपका कारण और आश्रय। सारे शुभ और अशुभ गुणोंका, विभूतियोंका और सृष्टिका यही बीज, आश्रय, कारण, गति आदि है। किंतु श्रेयार्थी मनुष्योंके लिअे अुनमें से अशुभ और अल्प गुण, विभूतिया और अुनका सर्जन अुपास्य या ध्येय नहीं हो सकते। अिसलिअे साधक चिन्तन और अुपासनाके लायक गुणों और शक्तियोंको ही पसन्द करता है और आध्यात्मिक अुन्नतिके लिअे भगवानकी कल्पना कल्याणकारी गुणों और शक्तियोंके महासागरके रूपमें ही करता है।

कल्याणकारी और प्राप्त करने योग्य गुण और शक्तिया कौनसी हैं, अिसके बारेमें किसी भी देशके भक्तों, श्रेयार्थियों या विचारकोंमें ज्यादा मतभेद नहीं हो सकता। किंतु किसी आकारको सुन्दरता या कल्याणमयताका आदर्श ठहरानेकी कोशिश की जाय तो अनेक मत खड़े होते हैं। शुभ और अशुभ गुण और शक्तिया कौनसी हैं, अिसका निर्णय सब देशोंके सत्पुरुषोंके अनुभवके आधार पर होता है। परन्तु श्रेष्ठ आकार कौनसा है, अिसके लिअे अनुभवका आधार नहीं मिलता। सिर्फ कल्पनाशीलता और परम्परागत संस्कारका ही अिसमें आधार लिया जाता है। आकार और अुसकी पूजाओंसे विसगत अुपासनाअें और पंथ पैदा होते हैं। यहूदी और अिस्लाम धर्मोंने आकारका अन्त करके भिन्न भिन्न अुपासनायें और पूजाअें प्रचलित होनेकी सम्भावना कम कर दी। हिन्दू धर्मने अिसे बहुत आदर दिया, तो घर-घर अलग देवचौके बन गये।

अितना अिस परिच्छेदकी शुरुआतमें दिये हुअे चौदह वाक्योंमें से आठके बारेमें हुआ। अब किसीके अवतार — सिद्ध-सर्वज्ञ-पैगम्बर

वगैरा होनेकी मान्यताके बारेमें विचार करे। यह स्पष्ट है कि ये सब कल्पनाओंके सिवा और कुछ नही है। ससारमें बहुत अूचे — लोकोत्तर — व्यक्ति पैदा होते है, अुनके अनेक चाहनेवाले और माननेवाले भी बन जाते है, लेकिन अुन्हे पैगम्बर, अवतार वगैरा समझनेमें अुनके द्वारा निर्मित और परम्परासे पोषित श्रद्धाओंके सस्कारके सिवा किसी सर्वमान्य अनुभवका आधार नही होता।

पर अिन कल्पनाओंने दुनियामें कअी तरहके झगडे और पथ खड़े किये है। परमेश्वर और मनुष्यके बीच ये लोग पेशवा या प्रधानमंत्री बनते है। अिग्लैण्डका राजा कौन है अिस पर कोअी झगडा नही, मगर राज्यमें किसका हुक्म चले, कौन प्रधानमत्री बने और राजाके नाम पर हुकूमत करे, अिस पर झगडे होते है। अुसी तरह झगडा मनुष्योंमें परमेश्वरके बारेमें नही होता, बल्कि अिस बात पर होता है कि किस अवतार-पैगम्बर-गुरु-सिद्ध-बुद्ध वगैराकी प्रणालिकायें चले। मनुष्योने बहुत कुछ अपनी अपनी राजनीतिक प्रणालिकाके अनुरूप ही अीश्वरकी व्यवस्थाओंके बारेमें कल्पना की है। जिस तरह हमारे यहा बडे-बडे ओहदे है, जेल है, पुलिस है, अुसी तरह हमने भगवानके शासनमें भी देव, फरिश्ते, स्वर्ग, वैकुठ, गोलोक वगैरा धाम और अुत्पत्ति, पालन, प्रलय वगैराके लिये अलग अलग मत्री, यमदूत और नरक-कुड आदि माने है।

अिसलिअे हमें अिन सारी काल्पनिक अुपासनाओंका दृढतापूर्वक त्याग करना चाहिये। और सिर्फ अितना ही ध्यानमें रखना चाहिये कि

मानो परमात्मा अेक केवल।
न मानो देव-देवता-प्रतिमा सकल॥
न मानो कोअी अवतार-गुरु-पैगम्बर॥
मानो ज्ञानी विवेकदर्शी केवल
सब सद्‌गुरु-बुद्ध-तीर्थंकर।
न कोअी सर्वज्ञ अस्खलनशील।
भले अूचा रहबर॥

१३-८-'४७

५

दूसरा प्रतिपादन

न किसी शास्त्रका वक्ता परमेश्वर।
न कोअी विवेकके क्षेत्रसे पर॥

पहले प्रतिपादनको मान लेनेके बाद दूसरेका स्वीकार करनेमें ज्यादा कठिनाअी नहीं मालूम होनी चाहिये। फिर भी मुमकिन है थोडी कठिनाअी जान पडे। कभी कभी मनुष्योंके मुहसे, और खास करके परमेश्वर-परायण मनुष्योंके मुहसे, अैसे लोकोत्तर वचन निकल पडते हैं, जो अगर वे सोच-विचार कर कहना चाहते तो नहीं कह सकते। वे खुद भी नहीं बतला सकते कि अुन्हें अिस तरह बोलना कैसे आया, और दूसरोंको भी वह आश्चर्यकारक मालूम होता है। बोलनेवाले और सुननेवाले दोनोंको लगता है कि अिन वाक्योंका कर्ता कोअी दूसरा ही है। मानो कोअी अन्तर्यामी अुनसे ये वाक्य बुलवा रहा है। ये वाक्य अगर अीश्वर-तत्त्वके बारेमें, मनुष्योंके धर्मके बारेमें, या किसी खास प्रश्नके बारेमें हों, और अुन्हें सुनते ही अुस जमानेके लोगोंकी कोअी समस्या हल होती हो, तो अुसे अीश्वरकी आज्ञा या अीश्वर-प्रेरित वाणी माननेका मन हो जाता है। और अगर वह कोअी भविष्य-वाणी हो और आगे चलकर बिलकुल सच निकले, तब तो अीश्वरके साथ अुसका सम्बन्ध जोडते देर नहीं लगती।

गहरा विचार करने पर मालूम होगा कि लोकोत्तर वाणी या दूसरोंके मनमें विश्वास पैदा करनेवाले सत्य-वचन सिर्फ परमेश्वर-परायण मनुष्योंके मुहसे ही निकलते हैं, अैसा हमेशा देखनेमें नहीं आता। कभी कभी अज्ञान बालकोंके मुहसे, कभी कभी पागल जैसे लगनेवाले लोगोंके मुहसे और कभी कभी नशेमें चूर मनुष्योंके मुहसे लोकोत्तर सत्य निकल पडते हैं। अिसलिअे अपने मन और विवेककी शुद्धिके लिअे लगातार कोशिश करनेवाले और मानव-समस्याओंकी गहराअीमें अुतरकर अुनका अध्ययन करने और अुन पर विचार करनेवाले, परमेश्वरके अथवा अुन अुन विद्याओंके अुपासक मनुष्योंके मुहसे

जाने अनजाने लोकोत्तर सत्य मत ज्यादा प्रमाणमें निकले, तो अिसमें आश्चर्यकी कोअी बात नहीं है। मगर अिस तरह प्रकट किये गये मतोंमें कभी भूल होती ही नहीं, वे हमेशा और आखिर तक सच्चे ही सिद्ध होते है, अैसा निरपवाद अनुभव नहीं है।

अिसलिअे मत व्यक्त करनेवाला या अुद्गार प्रकट करनेवाला व्यक्ति चाहे जितना महान हो, अुसके किसी वचनको अैसा नहीं मानना चाहिये जिसे विवेककी कसौटी पर कसे बगैर सिर्फ श्रद्धासे ही स्वीकार किया जा सके। जो परमेश्वरकी ही वाणी हो अुसकी सत्यताके बारेमें तो सभीको सुनते ही या अनुभव करते ही विश्वास हो जाना चाहिये। अगर वह सिर्फ वक्ताके प्रति श्रद्धा रखनेवालेको ही मानने योग्य लगे और दूसरेको मान्य होना तो दूर रहा, अुसमें दोष भी नजर आये, तो वह परमेश्वरकी वाणी कभी हो ही नहीं सकती। वह चाहे सोच-समझकर हेतुपूर्वक कही गअी हो, या अनजाने ही वक्ताके मुंहसे निकल पडी हो या किसी योगावस्था या चित्तकी विशिष्ट अवस्थामें कही गयी हो, अुसे परमेश्वरकी वाणी समझनेकी जरूरत नहीं है। मनुष्यके सभी अुद्गारोंको अुसकी बुद्धिसे या भावावेशसे निकले हुअे ही समझना चाहिये। और जिस हद तक वे अनुभव और विवेककी कसौटी पर खरे अुतरें, सिर्फ अुसी हद तक अुन्हें ग्रहण करने लायक समझना चाहिये।

अलबत्ता, अिसे व्यवहारके आधार पर समझना होगा। केवल सिद्धान्तकी दृष्टिसे तो यों भी कहा जा सकता है कि जो सार्थक या निरर्थक, सच्चे साबित होनेवाले या झूठे साबित होनेवाले शब्द हमारे मुंहसे निकलते है, वे सब अीश्वर-प्रेरित ही है। अीश्वरके सिवा दुनियामें अन्य किसीका कर्तृत्व-वक्तृत्व है ही नहीं। यानी दुनियामें जो कुछ होता है वह सब अीश्वर ही करता है और जो कुछ कहा जाता है उसका कहनेवाला भी अेक अीश्वर ही है। मगर अैसा मान लेनेसे मनुष्योंके — ज्ञानियोंके भी — व्यवहार नहीं चलते, नहीं चल सकते। सभीको विवेक-बुद्धिका अुपयोग करके तारतम्यको समझना ही पडता है।

यहां अिस तत्त्वचर्चामें पडनेकी जरूरत नहीं है कि कर्म, वाणी आदिके लिअे प्राणीकी जिम्मेदारी कितनी है और परमेश्वरकी कितनी।

मनुष्योंके व्यवहार मनुष्यका ही धर्म तय करनेवाला और बतानेवाला मानकर चलाये जा सकते हैं, अिसलिअे सारे धर्मों और वचनोंको अपने अपने विवेककी कसौटी पर कसनेका सबको अधिकार है, कर्तव्य भी है। जहां मनुष्यकी बुद्धि काम नहीं देती, वहां मनुष्य अुस व्यक्तिके निर्णयके आधार पर चलता है, जिसे वह अपनेसे ज्यादा विवेकी मानता है। मगर अैसा करनेसे पहले वह अपने विवेक या परम्परागत संस्कारके आधार पर अुस व्यक्तिको अपनेसे ज्यादा विवेकी ठहरा चुकता है। जहां सिर्फ परम्परागत संस्कारके आधार पर ही अैसा किया जाता है, वहां यह केवल श्रद्धाका ही परिणाम होनेकी वजहसे अुसके लिअे अूपर दिया हुआ प्रतिपादन अुपयोगी सिद्ध होगा।

अगर अूपरका प्रतिपादन मान्य हो, तो अेक दूसरी बौद्धिक कसरतसे भी मनुष्योंका — खास करके पण्डितोंका — पीछा छूट जाय। शास्त्रवचनोंको अीश्वर-प्रणीत माननेसे अुन सबमें अेकवाक्यता दिखानेकी कोशिश होती है। अगर यह मान्यता न होती तो प्रस्थान-त्रयी रचनेकी झंझटमें हमारे आचार्य न पड़े होते। अलग अलग कालोंमें शायद अेक-दूसरेका नाम भी न जाननेवाले विचारकों द्वारा रचे हुअे अुपनिषदों, ब्रह्मसूत्रों, गीता, पुराण वगैरामें अेक ही अर्थ, अेक ही सिद्धान्त प्रस्तुत करनेका आग्रह है, जिसे साबित करनेमें जो खींचातान करनी पड़ती है वह न करनी पड़े और वैदिक, बौद्ध, जैन, अिस्लाम, अीसाअी वगैरा सारे धर्मोंमें अेकवाक्यता दिखानेका प्रयत्न करनेकी जरूरत न पड़े। हरअेक धर्ममें कुछ बातें समान हैं, कुछ भिन्न हैं और कुछ परस्पर-विरोधी भी हैं। अेक ही धर्मके अेक ही शास्त्रमें भी परस्पर-विरोधी विधान मिल सकते हैं। कुछ विधि-निषेध अैसे हैं जिन्हें अमुक देश-काल और संस्कारोंका खयाल रखकर ही समझा जा सकता है। अिन सबमें अेकवाक्यता दिखानेकी कोशिश करना व्यर्थ श्रम अुठाना है। और यह अुपरोक्त प्रतिपादनके विपरीत श्रद्धाका ही परिणाम है। अिसलिअे

न किसी शास्त्रका वक्ता परमेश्वर।
न कोअी विवेकके क्षेत्रसे पर॥

१६-८-'४७

६

तीसरा प्रतिपादन

सार्वजनिक धर्म सदाचार-शिष्टाचार।
मुक्त ब्रह्मनिष्ठको भी भंगका न अधिकार।
भले बुद्धि शुद्ध, चित्त सदा निर्विकार॥

यह तीसरा महत्त्वपूर्ण प्रतिपादन है। सच पूछा जाय तो कोअी भी ज्ञानी स्खलनशील नहीं है, अिस विधानमें से यह सीधा निकलता है। मगर सारे धर्मोंमें और अुनसे पैदा हुअे विविध पंथोंमें और खास तौर पर हिन्दू धर्मके पंथोंमें, अिस विषय पर विचारोंकी बड़ी भारी गड़बड़ी है, और धर्मके, साधनाके तथा अधिकारवादके नाम पर अिनमें से अनेक वामाचार भी निर्माण हुअे हैं। अिसलिअे अिनके बारेमें ज्यादा स्पष्टता करनेकी जरूरत है।

सदाचार-शिष्टाचारके बुनियादी तत्त्व कौन कौनसे हैं, अिस पर हम चौथे प्रतिपादनमें विचार करेंगे। यहां अितना ही कहना काफी होगा कि हरअेक समाजको सदाचार-शिष्टाचारके अैसे नियम तय करने ही पड़ते हैं, जो सबके लिअे बन्धनकारक हों, और अुस समाजके हरअेक व्यक्तिका फर्ज होता है कि वह अुन नियमोंका पालन करे। सम्भव है सामान्य तथा अपवादरूप संयोगोंके लिअे भी ये नियम सोचे गये हों। अलग अलग समाजोंमें और बदलती हुअी परिस्थितियोंमें अिनकी तफसीलमें परिवर्तन भी हो सकता है और होगा। मगर किसी खास समयमें और खास समाजमें अुनकी सर्वथा स्पष्ट व्याख्या चाहे न हुअी हो, फिर भी सामान्य रूपमें कुछ मर्यादाअें तो निश्चित की ही गअी होंगी और समाजके विद्वानोंने अपनी लेखनी, अपने शब्दों और अपने बरतावसे अुनका निर्देश किया ही होगा। जिनमें अैसे कोअी नियमोंका स्वीकार या विचार न किया गया हो, अुस मानव-समूहको समाज नहीं कहा जा सकता।

अिन नियमोंका खुलेआम या छिपे तौर पर भंग करनेवाले लोग समाजमें रहेंगे ही। अैसे लोग समाजद्रोही माने जायगे और समाज

अपने संस्कारों और कुशलताके अनुसार अिस वृत्तिको रोकनेकी तथा नियमका भंग करनेवालोंको सजा देने या सुधारनेकी कोशिश करेगा।

हो सकता है कि सामान्य आदमी अैसे नियमोंके अक्षरार्थका, सिर्फ अुनके स्थूल भागका ही पालन करे। अितना ही हो तब भी समाज सुरक्षित रह सकता है। संभव है कि धार्मिक या सात्त्विक वृत्तिके लोग अुन नियमोंका ज्यादा लगनसे पालन करें, अुनके पीछे रहे अुद्देश्यका ख्याल रखकर अपने लिअे अुन नियमोंको और कड़े कर दें, और समाजने जो छूट देना स्वीकार किया हो अुसमें से भी अधिकांशका स्वयं त्याग कर दें। अिस तरह सर्वमान्य नियमोंसे ज्यादा कड़े नियम बनानेवाले और अुनका पालन करनेवाले लोगोंकी संस्थाअें भी बन सकती हैं। जिन्हें अुस समाजके विशेष पंथ या सम्प्रदाय कहा जा सकता है। नियमोंको ज्यादा कड़े बनाने और अुनका पालन करनेकी कोशिशमें सम्भव है कभी अुनमें अतिरेक हो जाय, अुनका तारतम्य टूट जाय, अुनका रूप अैसा विचित्र हो जाय कि देखनेवालोंको हंसी आवे और समाजके लिअे अुन्हें स्वीकार करना या अुनका पालन करना असम्भव हो जाय। जिस संस्थामें दाखिल हुआ, पल-पुसकर बड़ा हुआ और लम्बे समयसे अुसके नियमोंका पालन करता आया व्यक्ति अगर अुनमें रहनेवाले अतिरेकका त्याग करे और सामान्य समाज द्वारा स्वीकृत मर्यादाओंका ही पालन करे, तो अुसने संस्थाकी मर्यादा तोड़ी अैसा भले कहा जाय, परन्तु अुसे समाजद्रोही, असदाचारी या अनिष्टाचारी नहीं कहा जा सकता। संस्थाकी मर्यादा अुसमें रहनेवालोंके लिअे बन्धनकारक मानी जा सकती है, सारे समाजके लिअे नहीं। सारे समाजकी अपनी मर्यादा सबके लिअे बन्धनकारक है।

परन्तु जब किसी व्यक्तिको हम अवतार, पैगम्बर, ब्रह्मनिष्ठ, जीवन्मुक्त, सिद्ध, बुद्ध, अरहन्त, गुरु आदि रूपमें मानने लगते हैं, तब अुनके आचारोंके बारेमें सर्वथा भिन्न श्रद्धा रखने लगते हैं। अुनके जन्म और कर्मोंको 'दिव्य' यानी अतिमानवीय, अलौकिक, असाधारण समझना और अुन्हें समाजके विधि-निषेधों, सदाचार-शिष्टाचारके नियमोंसे परे मानना, अुनकी शुद्धता पर शक न करना, अुसे अनुकरणीय न मानने

पर भी भजन-कीर्तनके योग्य मानना, जिस तरह भी तर्क दौडाकर समर्थन किया जा सके अुस तरह अुसका समर्थन करना, जहा समर्थन किया ही न जा सके वहा अुन बातोकी प्रामाणिकताके बारेमे शकाअें करना या अुनका कोअी रूपकात्मक अर्थ बैठाना — अैसी अेक श्रद्धाकी कसरत खडी होती है। जिसकी जिस व्यक्ति पर श्रद्धा होती है, अुसे जैसा करनेमे कोअी मुश्किल नही मालूम होती। अितना ही नही, बल्कि खुले या छिपे तौर पर अुसके मनमे भी अैसी अभिलाषा बनी रहती है कि कोअी अैसा मगल दिन आवे, जब वह खुद भी समाजके विधि-निषेधोके बधनसे परे हो जाय। और जब यह अभिलाषा बलवान हो जाती है, तब वह खुदको भी अपने गुरु या आदर्श पुरुषकी ही तरह शुद्ध-बुद्ध स्थितिकी तरफ जाता हुआ और अन्तमें पहुचा हुआ समझने लगता है। धीरे धीरे वह स्वतन्त्रताअें लेने लगता है और वामाचारका केन्द्र निर्माण करता है। अेक तरफ बहुत कडे नियमोके पालन पर जोर देनेवाले और दूसरी तरफ स्थापक या अिष्ट देवताको अुनसे परे माननेवाले सप्रदायोमे अिस तरह वाममार्ग खडे हुअे है। अूपर दिये हुअे कारणोसे ही दूसरे लोग अैसे व्यक्तियो और पथोको नही मानते और अुनकी निन्दा करते है, अितना ही नही, अुनके स्तुत्य कर्मोका आदर करनेकी भी अुनकी वृत्ति नही होती।

दुनियामे कअी तरहकी आश्चर्यकारक घटनाअें, जिसकी कल्पना भी न की जा सके अैसी शक्ति रखनेवाले प्राणी या वनस्पतिया और कुदरतकी तथा चित्तकी अद्भुत शक्तिया बार-बार देखनेमे आती है। दूसरे प्राणियोकी अपेक्षा मनुष्यमे यह विशेषता है कि अुसकी चित्तवृत्ति और शक्तिया अनत शाखाओवाली है। आपको अेकाध बिल्ली अैसी भले मिल जाय जो दूसरी बिल्लियोसे बहुत ज्यादा ताकतवर और मोटी हो, पर अुसमे आपको कुत्तेके स्वभावका दर्शन कभी नही हो सकता। वैसे ही किसी कुत्तेमे कभी बिल्लीका स्वभाव नही पाया जा सकता। पर मनुष्यका स्वभाव और बुद्धि अनन्त रूपोमे विकसित हुअे है और कोअी मनुष्य अेक क्षेत्रमें तो दूसरा दूसरे क्षेत्रमे असाधारणता दिखला सकता है। कोअी मनुष्य बिल्लीकी वृत्तिका, कोअी श्वानवृत्तिका, कोअी सिह-

वृत्तिका, कोअी सियार-वृत्तिका, कोअी गोवृत्तिका तो कोअी घोडेकी वृत्तिका हो सकता है। वह मानो 'प्राणीका प्राणी, जीवका जीव' है। अिसलिअे मनुष्योंमें तरह तरहके लोकोत्तर पुरुषोंका निर्माण होना कोअी आश्चर्यकी बात नहीं है। सिकंदर, नेपोलियन, हिटलर, परशुराम वगैरा अेक प्रकारके लोकोत्तर व्यक्ति थे, राम, कृष्ण, मुहम्मद, मनु वगैरा दूसरे प्रकारके, बुद्ध, महावीर, अीसु, कनफ्यूशियस तीसरे प्रकारके, सॉक्रेटीज, शंकराचार्य वगैरा चौथे प्रकारके, शायद अिन सबका अंश रखनेवाले गांधी पाचवें प्रकारके, अुत्तर और दक्षिण ध्रुवके तथा अेवरेस्टके यात्री, डेविड लिविंग्स्टन जैसे मुसाफिर, महान सैनिक तथा नौसेना, हवाअी सेना वगैराके योद्धा छठे प्रकारके, महान वैज्ञानिक सातवें प्रकारके। अिस तरह अनन्त प्रकार गिनाये जा सकते हैं। अिन सबमें चाहे जितनी असाधारण शक्तियां हों, हजारों बरसोंमें अैसा अेकाध ही व्यक्ति पैदा होता हो, अुसके पराक्रम और यश चाहे जैसे अद्‌भुत हों, फिर भी किसीको अतिप्राकृत या अप्राकृत 'दिव्य' मानना अुचित नहीं है। सब प्रकृतिके ही कार्य हैं। क्योंकि कोअी भी अैसा नहीं है जो अपने खास क्षेत्रसे बाहरके क्षेत्रमें सामान्य मनुष्योंके गुण-दोषोंसे और वृत्तियों तथा स्वभावोंसे मुक्त हो। सबमें मानव-स्वभाव ही पाया जाता है यानी प्राणियोंका सामान्य स्वभाव और धर्म भी पाये जाते हैं, और सबमें मनुष्यकी विशेषता भी पाअी जाती है। अिसलिअे प्राणिधर्मोंके नियमनके लिअे और मनुष्यकी विशेषताका समाजके लाभके लिअे अुपयोग करनेके लिअे जो सदाचार और शिष्टाचार जरूरी माने जायं अुनसे किसीको परे न समझा जाय, और न कोअी अपने आपको अुनसे परे समझे। अिस तरह माननेवाले और मनवानेवाले दोनों दोषी हैं।

सार्वजनिक धर्म सदाचार-शिष्टाचार,
मुक्त ब्रह्मनिष्ठको भी भंगका न अधिकार,
भले बुद्धि शुद्ध, चित्त सदा निर्विकार।

१६/१८-८-'४७

७

चौथा प्रतिपादन

जिज्ञासा, निरलसता, अुद्यम।
अर्थ तथा भोगेच्छाका नियमन॥
शरीर स्वस्थ तथा वीर्यवान।
अिन्द्रिया शिक्षित, स्वाधीन॥
शुद्ध, सभ्य, वाणी-अुच्चारण।
स्वच्छ, शिष्ट, वस्त्र-धारण॥
निर्दोष, आरोग्यप्रद, मित-आहार।
सयमी, शिष्ट, स्त्री-पुरुष-व्यवहार॥
अर्थ-व्यवहारमे प्रामाणिकता तथा वचन-पालन।
दम्पतीमे अभिमान, प्रेम व सविवेक वश-वर्धन॥
प्रेमल विचारयुक्त शिशु-पालन॥
स्वच्छ, व्यवस्थित, देह, घर, ग्राम।
निर्मल, विशुद्ध जलधाम।
शुचि, शोभित सार्वजनिक स्थान॥
समाज-धारक अुद्योग व यत्र-निर्माण।
अन्न-दूध-वर्धन-प्रधान।
सर्वोदय-साधक समाज-विधान॥
मैत्री-सहयोगयुक्त जन-समाश्रय।
रोगी-निराश्रितको आश्रय॥
ये सब मानव-अुत्कर्षके द्वार।
समाज-समृद्धिके स्थिर आधार॥

सदाचार कहें, शिष्टाचार कहें, या मानव-धर्म कहे — समाज और व्यक्तिके धारण-पोषण और सत्त्व-सशुद्धिके लिअे ये ही नियम या शर्तें है। जो व्यक्ति, परिवार, जातिया या प्रजाअे अिन नियमोको पालती है

वे समृद्ध हो सकती हैं, अिनका भंग शुरू करनेके बाद वे अपनी समृद्धिको ज्यादा लम्बे समय तक टिका नहीं सकतीं। चाहे जिन ध्येयसे अिन नियमोंका भंग किया जाय या अिनके पालनमें शिथिलता की जाय, वैसा करनेवाले समाजको अुससे हानि ही होगी।

यह निश्चित है कि समाजके प्रति रहनेवाले अपने कर्तव्योंके बारेमें लापरवाह, भोगरत, स्वार्थी या बालकों जैसे अज्ञानी स्त्री-पुरुष अिन नियमोंके पालनमें शिथिलता अवश्य दिखावेंगे। अिसलिअे अिनका पालन करानेके लिअे समाजके नेताओं और शासकोंको हमेशा सावधान रहना होगा। अूपर बतलाये हुअे ध्येयोंकी सिद्धिके लिअे कम-से-कम किस तरहके स्थूल व्यवहारके नियम हों तथा लोगोंमें अुनके अनुकूल आदतें डालनेके लिअे किस तरहकी अनुकूल तालीम तथा बाह्य परिस्थिति निर्माण की जाय, अिसका निर्णय अुस समाजके अनुभवी, विज्ञानवेत्ता और ज्ञानी-विवेकी पुरुषोंको करना चाहिये और जरूरतके मुताबिक अुनमें बार-बार संशोधन भी करना चाहिये। पर जिस समय जो भी मर्यादायें निश्चित की गअी हों, वे अुस समाजमें रहनेवाले सब लोगोंके लिअे समान रूपसे बंधनकारक होनी चाहिये। राजा या संतसे लेकर मजदूर या कमार तक कोअी भी अुनसे परे न माना जाय। जो सामान्य मर्यादायें निश्चित की गअी हों, अुनसे ज्यादा कड़े संयम और नियम भले कोअी व्यक्ति या समूह अपने लिअे निश्चित करे, पर किसीको अुनके पालनमें अधिक शिथिलता करनेका अधिकार न रहे।

धर्म और समाजकी व्यवस्था आज अिस प्रकारकी नहीं है। अेक ओर सत्ता, धन और ज्ञानका अधिकारवाद कुछ लोगोंको अूपर बतलाये हुअे सार्वजनिक सदाचारों और शिष्टाचारोंके अेक अंशकी अवगणना करनेकी छूट देता है, तो दूसरी ओर त्याग, वैराग्य और मोक्षके आदर्श दूसरे अंशकी अवगणना करनेके और अुनकी अवगणना न कर सकनेवाली सामान्य जनताको पामर समझनेके संस्कार पैदा करते हैं। अुदाहरणके लिअे, आजकी धर्म और समाज-व्यवस्थामें सत्ताधारी, धनिक, ज्ञानी और त्यागी सबको आलस्य छोड़ने और अुद्यम करनेके

कर्तव्यसे मुक्ति मिलती है। सत्ताधारी और धनिकको अपनी धन और सुखभोगकी मर्यादा रखनेकी जरूरत नहीं है, धन और स्त्री-सम्बन्धी व्यवहारमें ये लोग बेओीमान और अनियन्त्रित बन सकते हैं, तथा गुरु और ज्ञानी बेपरवाह और सामान्य मर्यादाओंसे परे और स्वतन्त्र रह सकते हैं। शुद्ध और सभ्यतापूर्ण भाषा बोलनेका भार अधिकारियों, मालिकों और गुरुओं पर होना जरूरी नहीं है। कपड़ोंकी स्वच्छता और शिष्टताका विषय सत्ता, धन और शायद अूँची जाति पर निर्भर करता है। गरीब, सामान्य जनता और हलकी मानी जानेवाली जातियोंको कपड़ोंकी स्वच्छता तथा शिष्टताका अधिकार नहीं, त्यागी-वैरागियोंके लिअे मलिनता, फूहड़पन तथा नग्नता या अर्धनग्नता भूषण रूप भी मानी जाती है। अिनके लिअे स्वच्छता और शिष्टता निन्दाकी चीज भी हो सकती है। मगर गुरुपद पर पहुंचनेके बाद ये चाहें तो अपने आपको अिस विषयमें सत्ताधारियों और धनिकोंकी श्रेणीमें रख सकते हैं। निर्दोष, आरोग्यप्रद और मिताहारका धर्म सिर्फ योगाभ्यास करनेवाले ही स्वेच्छासे पालें, दूसरे लोगोंको बीमारीकी हालतमें जबरन् अुसे पालना पड़े तो बात दूसरी है। अेक ओर पति-पत्नीके आपसी व्यवहार, वंश-वर्धन और निजी तथा सार्वजनिक स्वच्छताके मामलोंमें साधारण जनतामें अराजकताकी स्थिति है। शास्त्रोंमें बहुत समझदारीके भी अुपदेश भरे हैं, पर व्यवहारमें या तो सभी मर्यादाअें टूट गअी हैं या टूटती जा रही हैं। दूसरी ओर पंथों और सम्प्रदायोंमें अैसे नियमोंका विधान होता है, जो खास सहूलियतों और असाधारण — आम जनताके जीवनसे भिन्न — जीवन-रचनाके बिना पाले ही नहीं जा सकते। अिकट्ठा करके खाना स्वादहीन भोजन लेना, अुबला हुआ अन्न खाना, अलूना ही खाना, कच्चा ही खाना, दुग्धाहार या फलाहार ही करना — अिस तरह अेकके बाद अेक अैसे व्रतोंकी व्यवस्था है, जिनमें कहीं आवश्यकतासे अधिक भोजन लिया जाता है और कहीं बिलकुल अुपवास किया जाता है। और अिन व्रतोंने निर्दोष, आरोग्यप्रद, मिताहारके नियमोंकी जगह ले ली है। स्त्री-पुरुष-व्यवहारके बारेमें भी विवाहकी मर्यादामें रहनेवाले पति-पत्नी भोगमें संयमकी या विवेकयुक्त

वश-वर्धनकी आवश्यकताको नही समझते और विवाहके बाहरके क्षेत्रमें सम्प्रदायोके नियमोंमें दोनो ओर अतिरेक है। अेक ओर तो खुले या छिपे वामाचारी पथ है और दूसरी ओर औरतोके लिअे परदा तो है ही, पर कुछ सम्प्रदायोमे पुरुषोके लिअे भी अैसी मर्यादायें निश्चित है जो करीब-करीब परदे जैसी कही जा सकती है। पहलेमें सबको भोगके साथ मोक्ष दिलानेकी भावना है, दूसरेमे पूरे मानव-समाजको प्रकृतिके असरसे छुडानेकी कामना है।

जिस तरह स्त्रीके बारेमें अतिरेक है, अुसी तरह धन-संग्रहके बारेमे भी है। अेक ओर अपरिग्रहके आदर्शको लेकर अैसे कडे नियम बने हुअे है कि अुनके अनुसार धातु और धनका स्पर्श तक नहीं किया जा सकता। पर अिसके साथ ही अुस आदर्शको माननेवाले पथोके पास अितना धन अिकट्ठा होता है कि अुसे समेटनेके लिअे फावडेका अुपयोग करना पडे। और वह धन अुसी आदर्शको रटनेवाले अनुयायियोकी तरफसे मिलता है। अर्थात् अुन अनुयायियोके जीवनको यह अपरिग्रहका आदर्श छू नही पाता अिसीलिअे अैसा होता है। धनको स्वय तो छुआ भी नही जा सकता, पर सघके लिअे अपार धन बढानेकी अपार स्वतन्त्रता दी जाती है। अैसे परस्पर-विरोधी प्रयत्नोके परिणाम-स्वरूप नियमोके अर्थ करनेमें विचित्र मतभेद पैदा हो तो कोअी आश्चर्यकी बात नही। अुदाहरणके लिअे, धातुके धनको तो धन माना जाय, पर नोटको धन न माना जाय, देवोके गहनो वगैराकी धातुको छूनेमे कोअी हर्ज नही। पैसे अपने हाथमें नही लिये जा सकते, पर अिसके लिअे नौकर रखा जा सकता है, या विशेष प्रकारके शिष्य बनाये जा सकते है, आदि।

जल, थल और शरीरकी स्वच्छताके बारेमें भी अैसे ही अतिरेक है। अेक पथमे अैसी नियम-रचना है कि शरीर धोते रहना, बरतन माजते रहना, घर-आगन लीपते रहना और पानी अुबालते या छानते रहना ही सारे दिनका काम हो पडता है, तो दूसरे पथमें अस्वच्छ, अमगल, अघोरी जीवन अच्छा माना गया है। सार्वजनिक स्वच्छताके बारेमे तो अभी हममे कोअी दृष्टि ही पैदा नही हुअी है।

जिस तरह नियम बनानेमें या तो विवेक, सदाचार, योग्यायोग्यता वगैराकी अवगणना हुअी है या जिस बातकी परवाह नही की गअी है कि मनुष्यमे, जो कि कुदरतके वशमे है, कितने नियमोके पालनकी अपेक्षा रखी जा सकती है तथा समाजके धारण-पोषण और सत्त्व-संशुद्धिके काम किस तरह चल सकते है। जिस कामको चार आदमी स्वेच्छासे ही कर सकते हैं — और शायद साथ रहे तो वे भी नही कर सकते — अुसे सैकडो शिष्योको दीक्षा देकर अुनसे करवानेकी अपेक्षा रखी जाती है और समाजको यह समझानेकी कोशिश की जाती कि वे ही नियम आदर्श है।

जिस तरह जिस विषयको आगे बढाया जा सकता है। सक्षेपमे जिस सम्बन्धमें असे नियम बनानेकी जरूरत है जिनका कोअी भग न कर सके, परन्तु जो चाहे वह अुन्हें अपने लिअे ज्यादा कडे बना सकता है। और असे नियम बनानेके बाद अुनके अनुकूल वातावरण और क्रान्ति निर्माण करनेकी जरूरत है।

श्रेय क्या है, धर्म क्या है, समाज और राज्य-व्यवस्थाका स्वरूप क्या होना चाहिये, व्यक्ति और समाजका सम्बन्ध क्या हो — अिन सारे मामलोमे धर्मो तथा पथो द्वारा स्वीकृत या पोषित सिद्धान्तोमे और कल्पनाओमें जडमूलसे परिवर्तन हुअे विना यह नही हो सकता। आजके सारे धर्म और पन्थ व्यक्तिको मोक्ष दिलानेके लिअे समाज पर अधिक बन्धन, पाप, दुःख या श्रमका बोझ डालते है, और वैसा बोझ समाज अुठाता है, अुसके बदलेमें अुसे अज्ञानी, मायामे फसा हुआ, पामर आदि विशेषण प्रदान करते है।

२१-८-'४७

८

पाचवा प्रतिपादन

पहले चार प्रतिपादनाके विस्तारके बाद पाचवेंके बारेमे ज्यादा कहने जैसा कुछ रह नही जाता। यह चारोके अुपसहार जैसा है। अिसमे बतलाया गया है कि

रखिये परमेश्वरका ही आश्रय।
न किसी मर्जित-कल्पितमे पैगम्बर-अीश्वरपनका निश्चय॥
मानिये अुसीको विवेकयुक्त सदाचार।
जिससे न पोषित हो कभी अनाचार॥
लीजिये सत्पुरुषोके सत्कर्मोका ही आधार।
कीजिये कथाओं-शास्त्रोका विवेकसे त्याग या स्वीकार॥
न प्रमाणिये कोअी सशययुक्त आचार।
चाहे जितना बडा हो आचरनार*।
या चाहे जैसे शास्त्रका भी आधार॥
धर्म हो भले नित्य, नैमित्तिक, विशेष या साधारण।
करे सबका समान रूपसे पालन॥

अिसका खुलासा करनेमे कुछ बातें पेश की जा सकती है। धर्म-अधर्मकी व्याख्या करनेमे क्या दृष्टिकोण होना चाहिये और अुसे कौन निश्चित करे?

यह मानकर चलना चाहिये कि बहुजन-समाजमे धन और भोग-प्राप्तिकी अिच्छा प्रकट या बीजरूपमें रहेगी ही। किसी अपवादरूप व्यक्तिमें अगर वह न हो तो अुसके कअी कारण हो सकते हैं। वह अुसकी जन्मसिद्ध लोकोत्तरता या व्यक्तिगत साधना भी हो सकती है, या अुसके शरीर, दिमाग वगैराकी कोअी खामी भी हो सकती है, कभी कभी ये दोनो बाते भी देखी जा सकती है। अैसे लोगोका सहज या साधना द्वारा विकसित स्वभाव सभी सिद्ध कर सकते है, अैसा आदर्श

---

* आचरण करनेवाला।

रखकर धर्मके नियम ठहरानेमें भूल होगी। साम्प्रदायिक नियमोंमें अधिकतर अैसी ही भूलें हुअी देखी जाती है। अुदाहरणके लिअे, मान लीजिये किसी पुरुषको धन, स्त्री वगैराके बारेमें अत्यन्त अुदासीनता या वैराग्य सिद्ध हो गया है, जिससे अुसकी असाधारण चित्तशुद्धि और अुन्नति हो गअी है। अुनका यह वैराग्य जन्मसिद्ध या कुछ अंशमें जन्मसिद्ध और कुछ अंशमें साधना-सिद्ध भी हो सकता है। अनेक मनुष्योंमें सात्त्विकताका कुछ अंश तो होता ही है। धर्मोपदेश और धर्ममार्गका अैसा अुद्देश्य होना स्वाभाविक है जिससे अिस अंशको पोषण मिले। पर अिसके साथ यह भी याद रखना चाहिये कि सात्त्विक अंशको पोषण मिलना अेक बात है और धन तथा स्त्री या दूसरे भोगोंकी वासना निर्मूल होना बिलकुल दूसरी बात है। वह शायद ही कभी अिस तरह निर्मूल हो सकती है या वह पूरी तरह निर्मूल होती ही नहीं, और बहुजन-समाजके लिअे तो अिन भोगोंकी तृप्तिके लिअे योग्य अवकाश रखे बिना छुटकारा ही नहीं, अैसा मानकर ही चलना चाहिये। सिर्फ स्थूल कडे नियमोंका पालन करनेसे कोअी अिससे बिलकुल बच जाय अैसा संभव नहीं होता, परन्तु बचना संभव हो तब भी बहुजन-समाज अिस रास्तेसे चल नहीं सकता। यानी अैसे कडे नियम बहुजन-समाज मंजूर करे और अुनके मुताबिक आचरण कर सके अैसा धर्म बन नहीं सकता। अिस तरह शील-सदाचारके नये नये बंधन, या आठ प्रकारका ब्रह्मचर्य, या स्त्री अथवा पुरुषका पुनर्विवाह न होनेका अनिवार्य नियम, या अनिवार्य आजन्म ब्रह्मचर्य, या अनिवार्य कंथा-कौपीन-धारण, या अपरिग्रह-व्रत वगैराके कडे नियम, अथवा यह संस्कार डालनेका प्रयत्न कि विवाह यानी पतन, गृहस्थाश्रम यानी पामर जीवन तथा अुद्यम यानी संसार-बंधन — बहुजन-समाजके लिअे व्यर्थ और हानिकारक साबित होते हैं। नतीजा यह होता है कि पहले तो अुस पंथमें साधु और संसारी अैसे दो प्रकारके अनुयायियोंके वर्ग बनते हैं। संसारी अनुयायी नियमोंकी योग्यताको तो स्वीकार करते हैं, परन्तु अुनका पालन करनेमें अपनेको असमर्थ मानते हैं, और अुनमें अपनी सहूलियतके मुताबिक काटछांट करते हैं। नियमोंकी योग्यता माननेवाले होनेके कारण

यह स्वाभाविक है कि अुनमें से कुछ व्यक्तियोंको जीवनके आरंभ या अन्तमें साधु बन जानेकी अिच्छा हो। जो लोग जीवनके पिछले भागमें साधु होते हैं, वे अगर बहुत कुछ स्थिर हो चुके हों, तो अुन्हें ज्यादा कठिनाअी नहीं पड़ती। परन्तु आरम्भके भागमें ही साधु बने हुअे व्यक्तियोंको अुस समय बड़ी परेशानीका सामना करना पड़ता है, जब वैराग्यमें अुतार आता है और बीजरूपमें रहनेवाली वासनाअें बार-बार प्रकट होती हैं। साधु तो बन बैठे, कड़े नियमोंका पालन भी शायद कर लें, पर वासनाअें शांतिसे रहने नहीं देतीं। अिसका क्या किया जाय? साधुधर्मसे निकलते शर्म मालूम होती है और वासनाअें दबती नहीं। अैसी स्थितिमें गलत तरीकोंसे वासनाओंका शमन करना या अुनके दाहको सहते रहना, ये दो ही रास्ते रह जाते हैं। अिस तरह 'त्याग न टके रे वैराग्य विना' भजनमें बताअी हुअी हालत होती है। जो स्थिति बहुजन-समाजका आदर्श नहीं हो सकती, जिसमें किसीको जबरदस्ती शामिल करना या शामिल होनेके लिअे ललचाना अुचित नहीं है, जिस स्थितिके प्रति स्वभावसे आकर्षण हो तभी वह फायदेमन्द हो सकती है, अुसे सबके लिअे आदर्श बतलाकर और अुसके लिअे खास नियम बनाकर अनेक लोगोंको अुसके दायरेमें लानेकी कोशिश करनेसे अैसी फजीहत होती है।

दूसरी ओर नियम बनानेमें अतिरेक होता है, या देश-काल तथा विचारोंके परिवर्तनके कारण पुराने नियम काम नहीं देते, अथवा स्थूल नियमोंका पालन करनेसे मन शुद्ध रहता ही है अैसा अनुभव नहीं होता। अिसके फलस्वरूप अैसा मत बनता है कि 'मन चंगा तो कठौतीमें गंगा' के अनुसार सच्ची शुद्धि तो मनकी होनी चाहिये, शुद्ध मनसे जो नियम पाला जाय वही सच्चा है, बाकी सब मिथ्याचार है। अिस कारण कुछ लोगोंका यह विचार बनता है कि सदाचार या समाज-व्यवस्थाके लिअे कोअी सामान्य नियम हो ही नहीं सकते, सारे नियमोंके बन्धन तोड़ने-लायक ही समझे जाने चाहिये, हरअेक व्यक्ति अपनी अपनी रुचिके मुताबिक नियम बनाकर जब तक ठीक लगे अुनका पालन

करे और धीरे धीरे सब नियमोंके बन्धनोंसे छूटनेका आदर्श अपने सामने रखे। यह दूसरे प्रकारकी भूल है।

अनेक अर्धसत्य सूत्रोंकी तरह यह 'मन चगा' का सूत्र भी बहुत अनर्थकारी है। क्योंकि मन कोअी अैसी चीज नही है, जिसे अगर अेक बार धोकर शुद्ध कर डालें, तो फिर कभी अुस पर मैल चढ ही न सके। वह तो कपडे जैसा है। अुसे रोजाना अच्छी तरहसे धोअिये, फिर भी वह मैला हो जाता है। अथवा पानी जैसा है, अुसे अुबालकर, भाप बनाकर फिरसे ठडा करें, तो भी हवाके ससर्गमे आकर वह फिरसे दूषित हो जायगा। शास्त्रका यह वचन है कि परम-पदका दर्शन करनेके बाद मन अैसा शुद्ध हो सकता है कि फिरसे अुसके दूषित होनेकी सभावना नहीं रह जाती। पर जिन लोगोंकी परम-पदका दर्शन करनेके बारेमे स्याति है, अुन्होंने अगर आखिर तक समाजकी नियम-मर्यादाओंका पालन किया हो, तो अिन मर्यादाओंको तोडकर चलनेवाले अिन लोगोंको पूर्णता तक पहुचे हुअे माननेको तैयार नहीं होते, और जिन्होंने मर्यादाअे तोडी हो अुन्हें मर्यादामें रहनेवाले ब्रह्मनिष्ठ जन परम-पदको प्राप्त हुअे नहीं मानते। सिर्फ अेक प्रकारकी भीरुताकी ही वजहसे वे लोग शकर या कृष्णको मानव-समाजसे परे, पूर्णावतारकी कोटिमे रखकर, चर्चाके क्षेत्रसे बाहर मानते है। शिव और कृष्णके लिअे जो अतिशय भक्ति रूढ हो गअी है, अुसे आघात न पहुचानेके लिअे ही अैसा हुआ है। मगर शिव और कृष्णके चरित्रोंको ब्रह्मनिष्ठ जनोंने अनुकरणीय नहीं माना है।

जिस तरह बिना सोचे-विचारे दूसरोंका अनुकरण करना क्रान्ति या प्रगति नही है, अुसी तरह अव्यवस्था और सब नियमोंका भग भी क्रान्ति या प्रगति नहीं है। परिवर्तन भले जडमूलमे हो, फिर भी वह विवेकयुक्त ही होना चाहिये।

व्यक्ति और समाजकी जरूरतोंके बारेमे अेक फर्क ध्यानमें रखना चाहिये। यह सच है कि मन बुरे रास्ते भटकता फिरे और सिर्फ शरीर ही बाहरी नियमों और आचारोंका पालन करे, तो अुससे व्यक्तिका

नैतिक अुत्कर्ष नहीं होता। पर समाजकी रक्षाके लिअे बहुत बार अितना ही काफी होता है। अेक आदमीकी अपने पडोसीकी घडी या लडकी पर बुरी नजर रहती हो, तो वह अपने अुत्कर्षकी दृष्टिसे चोर या व्यभिचारी जरूर बनता है, पर किसी संयमके संस्कारके कारण वह अपनी अपवित्र अिच्छा पर किसी भी तरहका अमल न करे, तो अुसका पडोसी सुरक्षित रहता है, और पडोसीके लिअे अितना काफी है।

अिसके विपरीत, अगर वह शुद्ध अुद्देश्यसे अैसा कोअी काम करे जिससे समाजकी रक्षा खतरेमें पडे, तो अुसके अुद्देश्यकी शुद्धता समाजकी दृष्टिसे अुसे निर्दोष ठहरानेके लिअे काफी नहीं होगी। अुदाहरणके लिअे, मान लीजिये कि अेक गरीब आदमीको घडीकी बहुत ज्यादा जरूरत है। अुपर्युक्त पडोसीके घर वह शुद्ध हेतुवाला आदमी जरूरतसे ज्यादा घडियां देखता है। अुनमें से अेक घडी अुठाकर वह गरीबको दे दे, तो अुसके हेतुकी शुद्धताके बावजूद वह चोर ही माना जायगा। अिसी तरह पडोसीके घरको या सामानको वह बडे सेवाभावसे आग लगा दे या अुसकी लडकीका हरण करे या अुसे अपने पास सुलाये, तो अुसके हेतुकी निर्मलता सामाजिक दृष्टिसे अुसे अपराधी माननेसे रोक नहीं सकेगी। अुसकी शुद्ध वृत्तिके कारण समाज अुसे माफ कर दे या कम सजा दे यह दूसरी बात है। पर अुसे वह बेकसूर नहीं मान सकता।

कभी कभी कहा जाता है कि भगवान मनुष्यके भावकी — हेतुकी — शुद्धताको देखता है। बाहरी, स्थूल मर्यादाओंके कम या ज्यादा पालनकी अुसके पास कोअी कीमत नहीं। बहुतसे अर्धसत्य सूत्रोंमें से अेक सूत्र यह भी है। 'भगवानसे हमारा क्या अर्थ है? अुसके देखने न देखनेका क्या मतलब है?' अिसकी तात्त्विक चर्चाको छोड दें और भगवानकी लोकमान्य कल्पनाको ही स्वीकार करें, तब भी यह कैसे समझा जाय कि भगवान अिस सिद्धान्तके अनुसार काम करता है? "भगवान भावका भूखा है, वह गरीबके 'पत्र पुष्प फल तोय' से जैसा प्रसन्न होता है वैसा धनवानकी लाखों रुपयोंकी भेंटसे भी प्रसन्न नहीं होता, 'दुर्योधनकी मेवा त्यागी, साग विदुर घर खाअी', 'सबसे

अुनी प्रेम सगाअी' आदि शास्त्र तथा भक्तोंके वचन हमारी श्रद्धाके आधार है, तथा जब सज्जन पुरुष भी जिस तरह बरतते हों, तब भगवान अैसा करे तो अिसमें कहना ही क्या — यह न्याय अिसके पीछे है।

जिन सूत्रोंको वास्तवमें अिस तरह रखना चाहिये

१ भगवान सिर्फ स्थूल वर्तन या अर्पणको नहीं देखता, वह भावको भी देखता है। वर्तन और अर्पणके साथ भाव — हेतु भी शुद्ध होना चाहिये।

२ भगवान भावपूर्वक 'सर्वार्पण' चाहता है। पर अिस सर्वार्पणकी कोअी अल्पतम मर्यादा नहीं है और भावकी अधिकतम मर्यादा नहीं है। यदि पत्र-पुष्प ही आपका सब-कुछ हो और सम्पूर्ण भावसे आप अुसे भगवानको अर्पण करें, तो अुसकी कदर पाच लाख या दो लाखमें से अेक लाख रुपयोंके दानकी अपेक्षा भगवान ही क्या — महापुरुष भी — ज्यादा करते है।

जिस तरह अशुद्ध मनसे किया हुआ समाज-धर्मका पालन समाजके लिअे काफी माना जाता है तथा शुद्ध हेतुसे किया हुआ अुसका भंग दोषरूप माना जाता है। यो समाजके धारण-पोषण और रक्षाके लिअे जिन नियमोंका पालन जरूरी है, अुसमें पालन करनेवालेके मनकी शुद्धि-अशुद्धि गौण रहती है, आचरण महत्त्वकी वस्तु रहता है। अपवादरूप प्रसंग तो नियमोंमें आ ही जाते है।

ये नियम बनानेमें नीचेकी दृष्टि सामने रहनी चाहिये

१. समाजका बहुत बडा भाग मन और अिन्द्रियोंके भोगों और अुनके साधनरूप अर्थकी, वंश-वर्धनकी और कुछ कर बतानेकी अभिलाषाओंसे बिलकुल विमुख नहीं होता, बल्कि अुनसे भरा हुआ होता है। अिनसे विमुख होना मानव-समाजके धारण-पोषण और अभ्युदयके लिअे हानिकर भी माना जा सकता है। अिसलिअे नियम अैसे होने चाहिये, जो अिन अभिलाषाओंकी सिद्धिके अनुकूल हों।

२ अिसके साथ यह भी खयाल रखना होगा कि अगर ये अभिलाषाअे निरंकुश हो जाय, तो ये भी समाज और व्यक्ति

दोनोंके अभ्युदयके लिये और अन्तमें दोनोंके धारण-पोषणके लिये हानिकारक हो सकती हैं। अिन अभिलाषाओंकी सिद्धि जरूरी है, परन्तु वे ही मानव-जीवनका अन्तिम साध्य नहीं हैं। अुसका साध्य तो मनुष्यमें रहनेवाली अुदात्त भावनाओंका विकास और अुत्कर्ष है। मानव-समाजको दुःखमें घसीटनेवाले अज्ञान, मुफलिसी, गरीबी, रोग, लड़ाई, अीर्षा, वैर, विषमता आदि बुराअियोंका नाश हो, मनुष्यके ज्ञान तथा प्रवृत्तियोंका मनुष्य-मनुष्यके बीच अेकता, सहयोग, प्रेम, और समृद्धि, समानता, भ्रातृभाव वगैरा बढ़ानेके लिये अुपयोग हो और हरअेक व्यक्तिको अपनी शक्तियोंका अुचित दिशामें विकास करने और समाजकी सेवा करनेका मौका मिले — ये अिस विकास और अुत्कर्षके स्पष्ट परिणाम हैं। अगर जिंदगीको व्यक्ति तथा समाजका धारण-पोषण और सुख-समृद्धि करनेवाला धर्म रखा जाय, तो अिस धर्मकी सिद्धि मानव-जीवनका अन्तिम ध्येय है। अिसके लिये अभिलाषाओंका विवेक-पूर्वक नियमन भी होना चाहिये। मोटर चलानेके लिये जिस तरह अेंजिनकी जरूरत है, अुसी तरह अुसकी चालको कम-ज्यादा करने और जरूरत पड़ने पर अुसे खड़ी रखनेके लिये नियमन करनेवाले तथा रोकनेवाले साधनोंकी भी जरूरत है।

३ कुछ नियमोंके बारेमें दोहरी मर्यादा होती है: कमसे कम अितना होना चाहिये और ज्यादासे ज्यादा अितना हो सकता है, जैसे कमसे कम अितने या अैसे कपड़े पहनने चाहिये और ज्यादासे ज्यादा अितने या अैसे कपड़े पहने जा सकते हैं। हरअेकको कमसे कम अितनी मेहनत करनी चाहिये और अितनीसे ज्यादा मेहनत किसीसे नहीं ली जा सकती। कुछ नियमोंमें नीचेकी मर्यादा होती है, कुछमें अूपरकी, जैसे मजदूरी कमसे कम अितनी होनी चाहिये, आमदनी ज्यादासे ज्यादा अितनी होनी चाहिये। नियम बनानेमें स्वास्थ्य, नीति और सभ्यता तीनोंका ख्याल रखा जाना चाहिये।

जहां किसी मर्यादाका अमुक हद तक पालनेका नियम हो, वहां व्यक्तिको अुसे ज्यादा कड़ाअीसे पालनेकी छूट रहती है, मगर नियमको ढीला करनेकी नहीं। जैसे, किसी जगह पर स्त्रियों और पुरुषोंके लिये

अलग अलग व्यवस्था रखी गअी हो और अुसे बन्धनकारक ठहराया गया हो तो अुसका भंग कोअी नहीं कर सकता। जहां असी व्यवस्था सिर्फ स्त्रियोंकी सहूलियतके लिअे ही रखी गअी हो, परन्तु पुरुषोंकी जगहमें स्त्रियोंको जानेकी छूट हो, वहां कोअी स्त्री आग्रहपूर्वक पुरुषोंकी जगहमें न जानेका नियम रख सकती है।

अिस तरह परिग्रह तथा जीवनके अनेक क्षेत्रोंमें संयम बढ़ानेके लिअे नियमोंमें घट-बढ़ करनेका व्यक्तिको सामान्य अधिकार रह सकता है। मगर असी घट-बढ़ करनेकी छूट किसीको नहीं मिल सकती, जिससे संयम टूटनेकी सुविधा पैदा हो।

असे नियम कौन निश्चित करे, यह दूसरा सवाल है। मुझे लगता है कि जिन्हें सामान्य कानून बनानेका अधिकार हो, अुन्हींको नीति-धर्मके कानून बनानेका भी अधिकार समझा जाना चाहिये। यह सच है कि वे सब धर्मचिंतक, स्थितप्रज्ञ नहीं हो सकते, और हाथोंकी संख्या गिनकर बुद्धिमत्ताका माप नहीं निकला जा सकता। फिर भी, अगर हम अिन लोगोंको भयंकर युद्ध जैसे समाजके जीवन-मरणके अनेक गम्भीर काम करनेका अधिकार देते हैं, तो ये कायदे बनानेका अधिकार भी अुन्हें दिया जा सकता है। आखिर वे भी अलग अलग कामोंमें अपनी मर्यादाको समझते हैं, और जिस कामके लिअे जो लोग योग्य माने गये हैं अुनकी सलाहके मुताबिक ही असे काम करते हैं। अुनको अितनी समझदारी काफी है। अनुभवके बाद नियमोंमें सुधार करनेका अवकाश तो रहता ही है।

असी कोअी स्पष्ट मर्यादाअें नहीं हैं, जिनके अनुसार नीति-धर्म और संसार-व्यवहारके कानूनोंके बीच भेद किया जा सके। जीवनका कोअी भी कार्य असा नहीं हो सकता जिसका नीति-धर्मके साथ सम्बन्ध न हो, और जैसा कोअी नीति-धर्म या धर्मकी कोअी साधना नहीं हो सकती जिसका वास्तवमें संसारके जीवनके साथ सम्बन्ध न हो। यह ठीक है कि काल्पनिक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाली साधनाअें या नीति-धर्मके नियम भी होते हैं। लेकिन यदि वे सांसारिक जीवनके नीति-धर्मको तोड़नेवाले हों, तो अुन्हें हानिकारक ही समझना चाहिये।

यह तो होगा ही कि समाज द्वारा बनाये हुओ नियमोंमें से कुछ नियम किसीको प्रतिकूल मालूम पड़े और किसीको प्रामाणिक रूपसे गलत मालूम हों। औसे लोग सत्याग्रह-वृत्तिसे या जबरदस्तीसे अुनका भंग करेंगे और भंग करनेके नतीजे भी भोगेंगे। अुनके भंगके पीछे अगर कुछ तथ्य होगा तो समाजको देर-सबेर अुन नियमोंमें सुधार करना ही पड़ेगा। समाजकी सारी व्यवस्थाओंमें सुधार करनेका यही रास्ता है। और वह अनिवार्य है।

२६-८-'४७

९

प्रचलित धर्मोंका अेक सामान्य लक्षण

सर्वधर्म-समभावके समर्थनमें अेक बात यह कही जाती है कि सब धर्मोंमें आध्यात्मिक, पारमार्थिक और सात्त्विक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले महत्त्वके सिद्धान्त अेकसे ही है। सब धर्म परमेश्वरकी भक्ति और आश्रय पर तथा सत्य, अहिंसा, दया, क्षमा, संयम वगैरा सन्त-गुणोंके अनुशीलन वगैरा पर अेकसा भार देते हैं। देश-काल आदिके भेदके कारण ब्योरेमें थोड़ा फर्क भले दीखे, किन्तु अुसे किसी भी धर्मके सत-पुरुष ज्यादा महत्त्व नहीं देते। अिसलिअे सारे धर्म समान आदरके पात्र है।

सब धर्मोंमें अेक दूसरा सिद्धांत भी समान है और बदकिस्मतीसे वह सिद्धान्त आजकी समस्याओंका हल खोजनेमें कठिनाअियां खड़ी करता है। वह सिद्धान्त समाज-धर्मके पालनमें बाधक होता है, और मनुष्यको — खास करके श्रेयार्थी वृत्तिके मनुष्यको — समाज-धर्मकी अवगणना करना भी सिखाता है। वह सिद्धान्त व्यक्तिकी अमरता और मोक्षका सिद्धान्त है। मनुष्य जीवन-कालमें अपने जिस व्यक्तित्वका अनुभव करता है वह अनादि और अमर है, मरनेके बाद पुनर्जन्म द्वारा या स्वर्ग-नरकके वास द्वारा वह चालू रहता है और मनुष्यका सच्चा

ध्यान अिस संसारको सुधारना नहीं है, बल्कि परलोककी (यानी भविष्यमें अच्छे जन्मकी अथवा जन्म-मरणका निवारण करके अखंड स्वर्ग या निर्वाणकी) प्राप्ति है, ऐहिक जीवनमें जितना दुःख अुठाया जायगा अुतना ही पारलौकिक जीवनमें सुख मिलेगा — ये सारे संस्कार अिसी सिद्धान्तमें से ही पैदा हुअे हैं। घरमें छप्पर चूता हो तो खुद छाता खोलकर बैठ जाना चाहिये और किसी तरह घरके दूसरे लोगोंको भी अपनी अपनी सहूलियत कर लेनी चाहिये अिस तरहका बहुत तीव्र संस्कार श्रेयार्थी पर पड़ा रहता है। रात और दिनकी तरह परलोक और अिस लोकके बीच, समाजके — संसारके — धर्मों और मोक्षके धर्मोंके बीच विरोध माना गया है। मोक्षधर्मका पालन करनेकी अशक्तिके परिणाम-स्वरूप समाज-जीवनमें मनुष्यकी प्रवृत्ति होती है, अिसके द्वारा जितनी चित्तशुद्धि हो अुतना ही अिसमें मनुष्यका हित है, अंतिम ध्येय तो निवृत्ति, व्यक्तिगत साधना, अपना स्वर्ग या मोक्षरूपी परलोक है। ऐसे संस्कारके कारण समाजको सुखी करनेकी अिच्छा रखनेवाले, समाजकी विविध प्रवृत्तियोंमें भाग लेनेवाले तथा समाजके धर्मोंका अनुसरण करनेवाले लोग अन्तमें अज्ञानी, मायामें फंसे हुअे ही माने जाते हैं।

अिस कारणसे तीव्र श्रद्धालु आदमीके मनमें संसारके कर्मोंके प्रति अनास्था और अुनसे निकल भागनेकी वृत्ति अुठती रहे यह स्वाभाविक है। अगर वह संसारके कामोंमें रस ले तो तीव्र साधक नहीं बन सकता, और संसारके कामोंमें रस लेना साधु पुरुषोंके लिअे पतन भी माना जाता है। नतीजा यह होता है कि संसारकी प्रवृत्तियां स्वार्थी और धूर्त लोगोंके ही हाथोंमें रहती हैं।

अिसके लिअे आत्मतत्त्व (चैतन्य-शक्ति अथवा ब्रह्म) और व्यक्ति-रूपसे हरअेक देहमें दिखाओ पड़नेवाले अुसके प्रत्यगात्मभावके बीचका भेद समझनेकी जरूरत है। चैतन्य-शक्ति अथवा परमेश्वर अनादि और अमर है, अिसलिअे अुसमें से स्फुरित और अुसके आधार पर टिका हुआ व्यक्तित्व भी अनादि और अमर ही है, यह निश्चित रूपसे नहीं कहा जा सकता। यह हो भी सकता है और नहीं भी हो सकता है।

यह है ही अैसा मान लेनेके परिणाम-स्वरूप समाज-धर्मके प्रति अनास्था और अपने व्यक्तित्वके ही विकास और मोक्षके बारेमें श्रद्धा पैदा होती है। समाज-धर्म, सेवा ये सब अपने व्यक्तिगत मोक्षकी सिद्धि तक ही महत्त्वके होते हैं। अगर यह निरी कल्पना ही हो तो समाज-धर्मके त्यागमें समाजका द्रोह ही होता है।

दूसरी ओरसे विचार करें तो व्यक्ति मरकर दुनियासे बिलकुल मिट जाय, तो भी दुनियाके जीवनका क्रम और विकास रुकते नहीं। पूर्वजों द्वारा साधे हुअे विकास या ह्रास, किये हुअे तप या पाप, अुनके द्वारा प्राप्त की हुअी सिद्धियां या पराजयों वगैराका लाभ पीछे आनेवाली पीढ़ियोंको मिलता है और अिस तरह भावी समाजके अुत्थान-पतनका अितिहास प्रत्यक्ष अनुभवमें आता है। पूर्वजोंका डोरा वंशजोंमें दिखाअी पड़ता है। और अिस प्रकार सारे समाजमें दिखाअी पड़ता है। व्यक्तिकी अुन्नतिसे समाजकी अुन्नति होती है और समाजकी अुन्नति व्यक्तिकी अुन्नतिमें मददगार होती है। समाजकी मददके बिना कोअी भी व्यक्ति अपना सर्वांगीण विकास नहीं कर सकता। "जन्म-मृत्यु बिच क्षण नहिं नाता। जब न समाज होत सुखदाता॥" (कृष्णायन)। यह हो सकता है कि कुछ व्यक्तियोंकी मददके बिना ही समाजको अपना विकास करना पड़े, मगर यह कहना होगा कि अैसे व्यक्ति समाजके प्रति अपना ऋण अदा नहीं करते।

मतलब यह कि मनुष्यका व्यक्तित्व अनादि-अमर हो, तो भी समाज-धर्मको छोड़कर व्यक्तिगत श्रेय साधनेकी अुपासना दोषपूर्ण ही है। समाजके कल्याणके लिये कोशिश करते रहना और अिसी अुद्देश्यसे अपनी शक्तियोंका अुपयोग और विकास करना हमारी भावना होनी चाहिये। अिस विचारके अभावका ही यह नतीजा है कि संसार कष्ट देनेवाले लोगोंके हाथमें ही रहा है और रहता है। जिस हद तक यह विचार परमेश्वरमें निष्ठा रखते हुअे छूटा है, अुसी हद तक संसारको सच्चे लोगोंकी मदद मिली है और मिलती है। व्यक्तिको मरनेके बादके अपने भविष्यकी चिन्ता करनेकी जरूरत नहीं है। अुसे समाजके ही श्रेयकी चिन्ता करनी चाहिये।

१०

धर्मो द्वारा खड़े किये हुअे विघ्न

अैहिक या पारलौकिक धर्मका हेतु मनुष्य-मनुष्यके बीच प्रेम, अेकता, सदाचार, न्याय, नीति, सुखमय समाज-जीवन तथा अनेक सद्-गुण और अच्छी आदतें निर्माण करना होना चाहिये। वह मनुष्यकी विवेक-शक्तिका और स्वतंत्र रीतिसे अुसकी विचार करनेकी शक्तिका विकास करनेवाला होना चाहिये। वह कल्पनाओं, वहमों आदिके घेरेसे मानवको बाहर निकालनेवाला होना चाहिये। अज्ञानमें ज्ञानकी ओर, परावलंबनमें स्वावलंबनकी ओर तथा अशक्तिसे शक्तिकी ओर जानेकी प्राणिमात्रकी जो स्वाभाविक गति है, अुसे मदद करनेवाला होना चाहिये। अिन स्वभावके साथ ही प्राणियोंकी प्रकृति दैन्यसे अैश्वर्यकी ओर, भोगके अभावमें अत्यधिक भोगकी ओर जानेकी भी होती है। यह प्रकृति अुनके और समाजके विनाशका कारण होती है। फिर भी अुस प्रकृतिको पूरी तरह दबाया नहीं जा सकता और जबरदस्ती दबानेसे न तो व्यक्तिको लाभ होता, न समाजको और अिससे किसीका अुत्कर्ष भी नहीं सधता। अिसलिअे धर्मका हेतु यह है कि वह दो अन्तिम सिरे — दीनता और अैश्वर्य, भोगका अभाव और विपुल भोग — छोड़कर समाजको बीचका रास्ता बार-बार बतलाता रहे। चाहे जितनी पूर्णताको पहुंचा हुआ धर्म-स्थापक हो, फिर भी वह हमेशाके लिअे अैसा रास्ता नहीं बना सकता जिससे यह हेतु सिद्ध हो। समय-समय पर, हर स्थान व प्रजाकी विशेषताओं तथा संयोगों (परिस्थितियों) के अनुसार अुसमें बार बार घट-बढ़ तथा बड़े बड़े परिवर्तन भी करने पड़ते हैं। धर्मके मूल आधार-स्तम्भों — सिद्धान्तोंमें से कुछ सनातन हो सकते हैं, मगर अुसके ब्योरेवार विधि-निषेध सनातन नहीं हो सकते। यह बात नहीं समझनेसे, अिसे भूल जानेसे, जो धर्म मनुष्योंके मार्गदर्शक होने चाहियें, वे ही अुन्हें भ्रममें डालनेवाले, भटकानेवाले और विपत्तियोंमें ढकेलनेवाले

बन गये हैं। आजके सारे प्रचलित बड़े धर्म अिस आक्षेपके पात्र हैं। अीश्वर-प्रणीत (रिवील्ड या अपौरुषेय) माने जानेवाले धर्म तो और भी ज्यादा आक्षेपके पात्र हैं।

हमारे देशके राजनीतिक रूप ले लेनेवाले कभी सवालों और झगड़ोंके मूलमें अुतरने पर पता चलेगा कि प्रचलित बड़े-बड़े धर्मोंके प्रति रहनेवाली गलत श्रद्धाओं तथा अुनके बड़प्पनके बारेमें झूठे अभिमानोंने अुन्हें पैदा किया है। वे अब धर्मके मार्ग नहीं रहे, बल्कि अैसे टूटे हुअे, मिटे हुअे अवशेष हैं, जिन पर चलनेकी कोशिश मानव-समाजको भयंकर जंगलमें ही ले जाती है। और मोहवश हम सब अपने-अपने मार्गको सच्चा मानकर गलत पगडण्डीको ही दुरुस्त करके अुसे पक्की बनानेकी कोशिश करना चाहते हैं।

स्मृतिकारोंने किसी समय वर्णों और वर्णोंकी अुच्चता और नीच-ताकी कल्पना की, अुसके अनुसार विवाह, विरासत, छुआछूत, सवर्णता-शूद्रता, सजा-क्षमा वगैराके कानून बनाये और जातिभेदकी नींव डाली। अुस समय शायद यही हो सकता होगा। मगर हमारे लिअे वे सनातन सिद्धान्त बन बैठे। ये शास्त्र अब प्रमाण नहीं रहे, अैसा कहनेकी हिम्मत कौन करे? अब भले अैसा लगे कि स्त्रियोंके अधिकार विशाल करने, विरासतके नियम बदलने, विवाहके बन्धनोंमें परिवर्तन करने, छुआछूत हटाने और वर्णान्तर तथा धर्मान्तर विवाहोंको मान्य रखनेकी जरूरत पैदा हुअी है। राज्यकी मददसे हम चाहे यह सब करनेमें सफल भी हो जायँ। मगर सनातन धर्मी हिन्दू तो अिस सबको धर्मका लोप या कलियुगका प्रभाव ही मानेगा। सुधारक हिन्दू अितनी हद तक चाहे न जाय, मगर आदर्शके रूपमें तो वह अैसा कुछ मानता ही है जैसे, किसी न किसी रूपमें वर्ण-व्यवस्थाका जीर्णोद्धार करना जरूरी है, पुनर्विवाह और तलाकके कानूनोंने मार्ग भले कर दिया हो, परन्तु वह प्रशस्त नहीं है, सिर्फ कानूनी विवाहसे विधि पूरी नहीं होती, अुसके साथ अैसा कुछ रखना ही चाहिये जिससे पुराने शास्त्रों और विधियोंकी कुछ प्रतिष्ठा बनी रहे। वह गणपतिको न माने तो भी गणेशोत्सव मनाता है, नागपूजाको न माने तो भी नाग-पंचमीका

दिन पालता है, वह अवतारो तथा देवोका मजाक अुडाये, अुनके सिनेमा बनाये और नाटक खेले, फिर भी अुनके दिनो और महिमाको भूलने नही देता।

यही बात मुसलमानो, सिक्खो वगराके बारेमें भी है। कुरानने चार औरतें करनेकी अिजाजत दी है। अब कौनसी मानव-सत्ता अैसी है जो अुसको वापस लेनेकी हिम्मत कर सकती है? कुरानने गायको मारनेकी मनाही नही की। तब किसी मानव-सत्ताको अुसे रोकनेका अधिकार ही नही हो सकता। गुरु गोविन्दसिंहने पाच 'क' रखनेकी आज्ञा दी है, अिसलिअे जो अुन्हे छोडे वह सिक्ख नही, जो छोड-नेके लिअे कहता है वह सिक्ख-धर्म पर हमला करता है। और ये ही सब मनुष्योंके झगडो, पक्षो वगैराकी अुत्पत्तिके कारण है।

अिन सबका कारण क्या है? कारण है यह श्रद्धा वेद अपौरुषेय हैं, स्मृतिकार त्रिकालज्ञ थे, बाअिबल और कुरानमे अीश्वरकी वाणी है, गुरुवाक्य अविचारणीय है।

विविध रूपोंमें मूर्तिपूजा और अुनके अनेक नये नये प्रकार निर्माण करनेका और अुनके लिअे फिर खूनकी नदिया बहानेका अनिष्ट भी प्रचलित महान धर्मोंकी ही वह विरासत है, जो पिछले २५-३० बरसोंसे झगडेका कारण बन गअी है। हजारो बरसोंसे राजाओ तथा बडे बडे वीरो और सेनापतियोंके अपने अपने खास झडे तो रहते ही आये है। हम पढते हैं कि महाभारतके युद्धमें पाचो पाडव, द्रुपद और अुसके लडके, कौरव सेनापति वगैरा सब अपने अपने खास झडे रखते थे। यूरोपमें भी अैसा ही था। किसी योद्धाको दूरसे पहचाना जा सके, यही अिसका अेक अुद्देश्य था और होना चाहिये। अिस झडेको तोडनेका मकसद यह था कि योद्धाको कोअी पहचान न सके और अिस तरह वह अपनी फौज या मित्रोसे अलग पड जाय। अिसमें झडेका अपमान या पूजा करनेकी भावना नही थी। अिस तरहके ध्वज-वदनका हिन्दुस्तानमे कोअी रिवाज कभी रहा हो अैसा पढनेमे नही आता। यह चीज पहले-पहल अीसाअी यूरोपमे दाखिल हुअी, क्योंकि अीसाअी प्रजाओंने अपने धर्मका पूज्य चिह्न 'क्रॉस' झडे पर

बनाया। पुराने अीसाअियोंमें मूर्तिपूजाका सस्कार बलवान होनेके कारण क्रॉसका निशान चाहे जहा और चाहे जिस कारणसे दिखाअी पडे, वह वदनीय बन जाता था। अुसमें देवत्वकी भावनाका आरोपण हो जाता था। अिस तरह झडा पूज्य बना और जिस योद्धाका वह झडा हो अुसके दुश्मनोके लिअे अुस योद्धाका अपमान करने या अुसे छेडनेका सरल साधन बना।

मुसलमानो और अीसाअियोके बीच होनेवाले धर्मयुद्धो (क्रुसेडो) मे झडा आसानीसे खून-खराबीका कारण बना। अिनमे राजाकी, राज्यकी, धर्मकी — अिस तरह अनेक प्रकारकी प्रतिष्ठाका समावेश हुआ।

मुसलमानका मूर्तिपूजा-विरोधी धर्म भी अिस झडा-पूजनकी छूतसे नही बचा। राज्य हो वहा झडा तो रहेगा ही। दूरसे पहचाननेके लिअे यही अनुकूल चीज मानी जा सकती है। पर मुसलमान बादशाहोका झडा भी मुस्लिम धर्मके साथ जुड गया। मूल पैगम्बर या पहले खलीफाका झडा नीला और चाद-तारेके निशानवाला रहा होगा, अिसलिअे वही अीसाअियोके क्रॉसकी तरह अिस्लामका बुत बना। फिर भी अमुक दिन और अमुक तरीकेसे झडा चढाना, अुतारना, अुसे सलामी देना — अिस तरहका कोअी कर्मकाड मुस्लिम राज्योमें होता होगा अैसा नही लगता।

हिन्दुस्तानमे ब्रिटिश राज्यके स्थापित होनेसे पहले, किसी जीते जानेवाले या जीते हुअे स्थानके साथ या प्रत्यक्ष लडाअीमे जहा झडेका सम्बन्ध न रहा हो, वहा सिर्फ अुसीकी अिज्जत या टेक रखनेके लिअे या अुसे तोडनेके लिअे कही खून-खराबी हुअी हो, अैसा पढनेमे नही आता।

ब्रिटिश राज्यने हिन्दुस्तानमे झडेके रूपमें मूर्तिपूजाका अेक नया प्रकार दाखिल किया। जिस मूर्तिपूजा-परायण देशमें अनेक हिन्दू राजा थे, मुसलमान बादशाह भी बहुतसे थे। मगर किसीका अेक झडा नही था। कोअी झडा अैसा नही था जो सिर्फ हिन्दू धर्मका ही चिह्न माना जा सके। जिस तरह दूसरे राजाओके अपने झडे थे, अुसी तरह

शिवाजीने भी अेक झडा पसन्द किया था। वह भगवे रगका था, जिस पर कोअी दूसरा निशान नही बना था। लेकिन भगवे झडेकी या किसी मन्दिरकी ध्वजाकी भी वन्दना करनेकी किसीने कल्पना नही की थी।

काग्रेसके किसी मूर्तिपूजा-परायण सदस्यको झडा-पूजनकी छूत लगी। अुसने यह छूत गाधीजीको लगाअी और अुसकी झडपमे वे आ गये। फिर यह छूत सारी काग्रेसमे फैली और अुसके विरोधियोको भी दूसरे रूपमें लगी। चरखेके निशानवाला तिरगा झडा पैदा हुआ, अुसके विरोधमे यूनियन जैक तो था ही, लीगका नीला चाद-तारोवाला झडा, हिन्दू महासभाका भगवा झडा और दूसरे छोटे बडे दलोके कअी किस्मके झडे बने। कोअी देश जीतने नही थे, जीते हुअे नही थे, कोअी युद्ध नही चल रहा था या कोअी फौज नही थी, जिसके आगे अिस झडेको रखा जाता, फिर भी अिसने पक्षका — टेकका — झगडा खडा किया। नागपुरके मूर्ख सरकारी अधिकारियोने अुसके लिअे कारण पैदा करके अुसे महत्त्व प्रदान किया। झडा पूजनीय मूर्ति बना। अुस पर स्त्री-पुरुषोके खून बहे! तिरगा आगे आवे तो लीगका झडा क्यो पीछे रहे? और हिन्दू महासभा अिसे कैसे चुपचाप मान ले? अिस तरह लाल (या केसरी), सफेद, नीला या भगवा रग, चरखा या चक्र, या चाद-तारेका निशान मनुष्योके लिअे अेक-दूसरेके सिर फोडनेके कारण बने। केसरी यानी बलिदान, सफेद यानी शान्ति जैसे अर्थ तो मनुष्यके दिये हुअे कल्पित अर्थ है। जिन रगोने अुन भावना-ओको सुरक्षित रखा हो अैसा कभी नही देखा गया। झडेका चरखा सूत नही निकाल सकता, न अुसका धर्मचक्र धर्मकी स्थापना कर सकता है। मगर वे सब झूठी मोह-ममता और खूरेजीकी भावनाको बढावा देते है, और यह तो प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है कि अिसीमें से हिन्दुस्तान और पाकिस्तानके दो राजकीय प्रदेश खडे हुअे। अगर झडा सिर्फ पहचानका ही चिह्न होता और अुसका सिर्फ अितना ही अुपयोग माननेका सस्कार हममें होता, तो हमारे देशमे बहुतसी बिना कारण होनेवाली खूरेजी रुक सकी होती।

अेक सोचने लायक बात यह है कि 'रिलिजियन' या 'मजहब' के अर्थमें धर्म शब्दका अुपयोग अभी अभी ही किया जाने लगा है। संस्कृत भाषामें मत, पंथ, सम्प्रदाय, दर्शन, शास्त्रवाद वगैरा शब्द हैं, ये प्रत्येकको मान्य हो अैसे धर्म अथवा आचार हैं, और जिस तरह स्मृति-धर्म, रूढि-धर्म, पुराणोक्त धर्म वगैरा भी हैं। परन्तु वैदिक धर्म, जैन धर्म, बौद्ध धर्म, हिन्दू धर्म जैसा भाषा-प्रयोग हालमें ही पैदा हुआ है। अपने अपने सम्प्रदाय या दर्शन द्वारा मान्य किये हुअे शास्त्रोंका समन्वय करने और अुनमें अेकवाक्यता पैदा करनेकी हर मतके अनुयायियोंने कोशिश भी की है। पर अलग अलग मतों या ग्रंथोंका अथवा अनेक शास्त्रोंका समन्वय या अेकवाक्यता करनेकी कोशिश नहीं हुअी। अिसे सम्भव नहीं माना गया कि वेद मत, जैन मत, बौद्ध मतकी अेकवाक्यता की जा सकती है। अैसा कोअी नहीं कहता कि श्वेताम्बर पंथ और दिगम्बर पन्थ, शैव सम्प्रदाय और वैष्णव सम्प्रदाय, सांख्य-दर्शन और वेदान्त-दर्शन आदिमें अेकवाक्यता है। ज्यादासे ज्यादा अिन सबमें विचारकी क्रमिक प्रगति या समानता दिखानेकी कोशिश होती है। अलग अलग मतों, दर्शनों वगैराको माननेवालोंके प्रति सहिष्णुता रखते हुअे भी हमारे यहां अुनकी आलोचना करनेमें कभी संकोच नहीं किया गया, न यही माना गया कि अुनकी आलोचना नहीं की जा सकती। अिस बातको स्वीकार किया गया है कि 'शास्त्रार्थ', 'खण्डन-मण्डन' आदि करनेका अधिकार सबको है।

सच पूछा जाय तो जैसे वैदिक मत, जैन मत, बौद्ध मत है और अुनमें से हरअेकके अनेक सम्प्रदाय, दर्शन, पंथ कहे जा सकते हैं, वैसे ही अिस्लाम और अीसाअी मत भी कहे जा सकते हैं। हरअेक मत अुसके माननेवालोंको सोलह आना सच मालूम होता होगा, परन्तु दूसरे मतवालोंको वह कुछ सच्चा और कुछ झूठा या बिलकुल झूठा भी लग सकता है। झूठा लगते हुअे भी वे अुसके प्रति सहिष्णुता रख सकते हैं, विनय और आदर बता सकते हैं, विनय और आदरसे अुसे जाननेकी कोशिश कर सकते हैं। परन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि अुसके विचारों और आचारोंकी सत्यताकी आलोचना

नहीं हो सकती, या अैसा करनेका किसीको अधिकार नहीं है। अगर अिसे स्वीकार कर लिया जाय तो सत्यकी शोध और असत्यके त्यागका रास्ता ही बन्द हो जाय। परन्तु मतके लिअे धर्म या मजहब शब्दका प्रयोग करके सत्य-शोधनका विरोधी अैसा आग्रह पैदा हुआ कि किसी मतकी अुत्पत्तिके बारेमें अुनके अनुयायियोंकी यह श्रद्धा दूसरे मतवालोंको भी स्वीकार करनी चाहिये कि अुनका मत अीश्वर-प्रणीत है अिसलिअे सत्य ही है।

विचार करने पर मालूम होगा कि गलत शब्दों द्वारा कितने अनर्थ पैदा होते हैं। अूपर कहे मुताबिक 'मजहब' या 'रिलिजियन' का सच्चा अर्थ 'मत' है। पर अुसके लिअे 'धर्म' शब्दकी योजना हुअी। फिर सहिष्णुताके बदले 'समभाव' की योजना हुअी। अिस तरह परमत-सहिष्णुताके अर्थमें सर्वधर्म-समभाव शब्द बना। और समभावका अर्थ सहानुभूति या आदर तक नहीं, बल्कि 'अेकभाव' (=सब धर्म अेक ही हैं) तक और अुनसे भी आगे बढ़कर 'ममभाव' (=सब धर्म मेरे हैं) तक पहुंचा।

अेक दृष्टिसे अैसा लग सकता है कि यह सब हिन्दुओंकी अेक युक्ति ही है और अिसका अुद्देश्य बढ़ती हुअी धर्मान्तरकी प्रवृत्तिसे आत्मरक्षा करना है। अगर यह मान लिया जाय कि हर धर्म सच्चा है, मोक्षदायी है, तो धर्मान्तरकी जरूरत ही न रहे। जो आदमी जिस धर्ममें पैदा हुआ हो, अुसे वह सच्चे दिलसे पाले अितना बस है। 'स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः'। यहां धर्म शब्दका अर्थ मत —सम्प्रदाय— नहीं है, यह कहनेकी जरूरत नहीं होनी चाहिये। अिसका यह अभिप्राय नहीं है कि जैनसे वैष्णव या वैष्णवसे जैन मत स्वीकार नहीं किया जा सकता, अथवा अद्वैतवादी वातावरणमें पला हुआ व्यक्ति द्वैतवादी नहीं बन सकता। जो सामाजिक धर्म — जिन्हें आम तौर पर वर्णाश्रम-धर्मके नामसे पहचाना जाता है — अपने अपने स्वभाव, शिक्षण, संस्कार वगैराके आधार पर निश्चित हुअे हों अुनका त्याग न करनेका ही अिसमें अुपदेश है। मत बदला जा सकता है, अिसीलिअे तो अनेक सम्प्रदाय और गुरु-गादियां चलती हैं और अुनका

प्रचार होता है। जैसे जैन, बौद्ध, सिक्ख आदि मत हैं और अुनका स्वीकार या त्याग किया जा सकता है, अुसी तरह मुसलमान और औसाओी मतोंका भी स्वीकार या त्याग करने और अुनका प्रचार या खण्डन-मण्डन करनेमें कोअी हर्ज नहीं होना चाहिये। अिसमें से राजनीतिक समस्या खड़ी होनेकी जरूरत नहीं है।

मगर अैसा हुआ है और मत बदलनेकी प्रवृत्ति, जिसे धर्मान्तर प्रवृत्तिका नाम दिया गया है, अेक बड़ी समस्या बन बैठी है। धर्म शब्दके गलत अुपयोगके कारण अिस समस्याका सच्चा स्वरूप समझनेमें हम सही दिशाको भूल गये हैं।

वस्तुस्थिति यह है कि अिस्लाम तथा औसाओी धर्म सिर्फ मतान्तर नहीं कराते, बल्कि समाजान्तर भी कराते हैं। कोअी जैन वैष्णव बनकर गलेमें कंठी पहने तथा कृष्ण-मन्दिरमें जाय और गीता-भागवत पढ़े, या कोअी वैष्णव जैन बनकर कंठी तोड़े, अपासरे (जैन साधुओंके रहनेकी जगह) में जाय और जैन-पुराण सुने, तब भी अुसके सामाजिक और पारिवारिक धर्म-कर्ममें तथा स्थान, वरासत-विवाह वगैराके अधिकार आदिमें परिवर्तन नहीं होता। अुसका नाम-ठाम नहीं बदलता। मगर मुसलमान या औसाओी बननेसे यह सब बदल जाता है। तब अुसकी पत्नी अुसकी पत्नी नहीं रह जाती, पति पति नहीं रह जाता। अुनके सम्मिलित कुटुम्बके, विरासतके तथा मिल्कियतके अधिकारोंमें फर्क पड़ जाता है। अिस तरह मतान्तरके साथ समाजान्तर होनेसे प्रजामें समाज-भेद निर्माण होता है और हुआ है। और अिस तरह समाजकी अेकता भंग होनेका नतीजा दो प्रजाओं — नेशन्स — का वाद और अुसके फल हैं। झगड़ा अल्ला, गॉड या अीश्वरका नहीं है, अेक देव या बहुदेवोंका भी नहीं है, बल्कि कुरान, बाअिबल तथा स्मृतियों द्वारा निरूपित अलग अलग प्रकारके सामाजिक अधिकारों, कर्तव्यों और सामाजिक जीवनसे सम्बन्ध रखनेवाले विधि-निषेधोंका है। अगर सामाजिक कायदे अेक प्रदेशमें रहनेवाली सारी प्रजाके लिअे अेकसे ही रखनेका अनिवार्य नियम हो

और परमत-सहिष्णुता भी हो, तो अनेक तरहके मत-पंथ होनेसे भी मुश्किलें पैदा न हों।

अिस तरह, धर्मान्तर = मतान्तर + समाजान्तर, और विविध धर्म (= मजहब) = विविध आध्यात्मिक मत + विविध सामाजिक कानून। अगर अुचित मर्यादामें रहकर सिर्फ विविध आध्यात्मिक मतोंका ही प्रचार हो और चाहे जितनी संख्यामें अेक मतके मनुष्य दूसरे मतमें शामिल हों, तो अैसा नहीं कहा जा सकता कि अुसमें कठिनाअियां पैदा होंगी ही। सर्वधर्म-समभाव भले न हो, परन्तु परमत-सहिष्णुता ही हो तब भी सब सुखसे रह सकते हैं। परंतु मतान्तरके साथ अुस मतवालेको समाजके विशेष कानून बनानेकी या मान्य करवानेकी स्वतंत्रता नहीं होनी चाहिये। मतांतरके सम्बन्धमें विशेष कानून बनाने या मान्य करानेका अल्पमतोंका — अर्थात् विशिष्ट धर्मवालोंका — अधिकार मान्य रखनेसे भिन्न भिन्न अेक-दूसरेसे अेकरूप न हो सकनेवाले समाजोंका अस्तित्व टाला नहीं जा सकेगा और अुनकी समस्याअें खड़ी होती ही रहेंगी। यह बतलानेसे अिस समस्याका अन्त नहीं होगा कि अीश्वर, सद्गुण और पवित्र जीवनके सम्बन्धमें सब धर्म अेकमत हैं, क्योंकि ये झगड़े अीश्वर, सद्गुण या पवित्र जीवन-सम्बन्धी मतोंके बारेमें नहीं होते, बल्कि मेरे और दूसरेके समाजके अलग होनेसे पैदा होनेवाली राजनीतिक, आर्थिक वगैरा स्पर्धाओंके होते हैं।

जिस हद तक अैसे समाजान्तरका कारण आजके धर्म हैं, अुसी हद तक वे प्रजाकी समस्याओंको हल करनेमें विघ्नरूप हैं।

११

भाषाके प्रश्न — पूर्वार्ध

हमें अच्छी तरहसे याद रखना चाहिये कि पाकिस्तानका प्रकरण हिन्दुओंकी समाज-रचना और अुनके स्वभावका नतीजा है। हमारा चौका दूसरोंसे बिलकुल जुदा होना चाहिये, अुनमें किसी दूसरेको शामिल नहीं करना चाहिये, हमारी विशिष्टता अैसी होनी चाहिये कि अंधा भी अुसे देख सके — यह हिन्दू जनताका या जनताका नहीं बल्कि हिन्दू पंडितों, नेताओं तथा अूंची कही जानेवाली जातियोंका स्वभाव और आग्रह बन गया है।

अैसा समाज कभी सुधरता ही नहीं या प्रगति ही नहीं करता, यह कहना ठीक नहीं होगा। मगर वह अिस सुधार या प्रगतिको बुद्धिपूर्वक नहीं अपनाता। जबरदस्तीसे कोअी सुधार अुसमें दाखिल किया जाय, तो काफी समय बीतने पर वह अुसके अधीन हो जाता है। और सिर्फ अधीन ही नहीं होता, बल्कि वह सुधार मानो शुरूसे ही अुसके सामाजिक जीवनका अंग था अैसा समझकर अुसके प्रति ममता भी रखने लगता है। सुधारोंके सम्बन्धमें हमारी वृत्ति रेलगाड़ीके मुसाफिरों जैसी है। डिब्बेमें जगह होते हुअे भी नया मुसाफिर बैठनेके लिअे आवे, तो पहले अुसे रोकनेकी कोशिश की जाती है। पर वह जबरदस्ती घुस जाय तो पहले थोड़ी देर तक क्रोध दिखाया जाता है और बादमें अुसे दोस्त बना लिया जाता है। फिर कोअी तीसरा मुसाफिर आवे तो नये और पुराने दोनों मिलकर वैसा ही व्यवहार अिस तीसरेके साथ भी करते हैं।

जीवनके आर्थिक, सामाजिक, साहित्यिक, कलात्मक, सांस्कारिक किसी भी पहलूकी हम जांच करें, तो अिस स्वभावके दर्शन हमें होंगे। अिनमें से यहां हम भाषाके प्रश्न पर विचार करेंगे।

अिसमें शक नहीं कि हमारी मौजूदा प्रान्तीय भाषाअें बहुत ज्यादा मात्रामें संस्कृत भाषाका खाद चूसकर बढ़ी हुअी विविध लतायें

है। मगर जब हम 'बहुत ज्यादा मात्रा'का मतलब नौ फीसदीके बराबर समझने लगते हैं, तब दो-तीन प्रकारकी भूलें होती है। पहली यह कि संस्कृतके खादका बहुत बड़ा भाग होने पर भी अुसमें दूसरी भाषाओंका खाद भी है ही, और हम यह भूल जाते हैं कि संस्कृत अपने साहित्यिक रूपमें ही नहीं, बल्कि प्राकृत अथवा विकृत (यानी बिगड़े हुअे) रूपमें भी है। अिस कारणसे अेक ही संस्कृत शब्द अलग अलग भाषाओंमें अलग अलग अर्थोंमें काममें लिया जाता है और अेक ही अर्थमें अलग अलग भाषाअें अलग अलग संस्कृत शब्दोंको काममें लेती हैं, अिसे हम भूल जाते हैं। दूसरी भूल यह होती है हम अैसा मानने लगे हैं कि मुसलमानों और अंग्रेजोंके आनेसे पहले संस्कृत-परिवारसे स्वतंत्र भाषाअें बोलनेवाली कोअी प्रजायें अिस देशमें थीं ही नहीं, अथवा अगर थीं भी तो अुनकी बोलियोंका हमारी मौजूदा भाषाओंमें कोअी हिस्सा ही नहीं है। सच बात तो यह है कि हमारी प्रचलित भाषाअें संस्कृत (तत्सम या तद्भव) + स्थानीय तथा पुरानी या नअी आयी हुअी प्रजाओंकी भाषाओंसे अच्छी तरह मिश्रित हैं, सिर्फ मुसलमानी (फारसी-अरबी) या अंग्रेजी भाषाओंसे ही मिश्रित नहीं हैं। तीसरे हम यह बात भूल जाते हैं कि साहित्यिक संस्कृतमें भी दूसरी भाषाओंके शब्द आ गये हैं। अुनमें द्राविड़ी भाषाओंके कअी शब्द तत्सम या तद्भव (यानी संस्कृत-कृत) रूपमें हैं तथा ग्रीक वगैरा भाषाओंके भी कअी शब्द हैं। अपनी दृष्टिसे हम अिन्हें संस्कृत बनाये हुअे मानते हैं, पर अिन भाषाओंके बोलनेवालोंकी दृष्टिसे वे विकृत या तद्भव ही माने जायेंगे। अिस तरह संस्कृत या कोअी भी प्रचलित भाषा अैसी नहीं है, जिसमें दूसरी भाषाओंके शब्दोंका मिश्रण न हो। मगर अिन पुराने मिश्रणोंको हमने पचा लिया है और अुनके प्रति हमारे हृदयमें ममत्व भी पैदा हो गया है। हम अैसा मानते हैं कि अिनसे हमारी भाषा बिगड़ी नहीं बल्कि बढ़ी है, समृद्ध हुअी है, अुसे प्रान्तीय विशिष्टताअें प्राप्त हुअी हैं और शुद्ध संस्कृतकी अपेक्षा अैसे स्थानीय शब्द ज्यादा पसन्द करने लायक हैं। सम्भव है कि जिन जिन जमानोंमें अैसी मिलावट हुअी, अुनमें अिसका स्वागत न

हुआ हो, परन्तु अनिवार्य हो पड़नेके बाद अिनके प्रति ममता पैदा हो गयी हो। अैसी कितनी भाषाओंकी नदियाँ हमारी मौजूदा भाषाओंमें मिली हुअी होंगी, जिन्हें गिनाना भी मुश्किल है।

मुसलमानों और अंग्रेजोंके आनेके बाद अुनकी भाषाओंके शब्दों, प्रयोगों, पारिभाषिक शब्दों वगैराका हमारी भाषाओंमें दाखिल होना कोअी आश्चर्यकी बात नहीं है। अुन्होंने हमें जीता, हम पर राज्य किया, हमें शर्मिन्दा किया, अितना करके ही हमें छुट्टी न दी, पर अिसमें भाषाओंकी या संस्कृतियोंकी मिलावटके बारेमें शोर करने जैसी कोअी बात नहीं है। अेक प्रजाका दूसरी प्रजासे सम्बन्ध बननेके अनेक कारण होते हैं। जिस तरह पड़ोस, व्यापार, प्रवास, साहित्य-प्रेम वगैराके द्वारा सम्बन्ध बनते हैं, अुसी तरह हिंसा-परायण जगतमें आक्रमण और हार-जीतके द्वारा भी सम्बन्ध बनते हैं। सबके अच्छे-बुरे नतीजे होते हैं। सबके अेक-दूसरेकी भाषा और संस्कृति पर अच्छे-बुरे असर होते हैं। जिस प्रजाकी जो विशेषता हो अुसे व्यक्त करनेवाले खास शब्द भी अुसकी भाषामें होते ही हैं। हो सकता है कि अुसे अच्छी तरह प्रकट करनेवाले काफी शब्द दूसरी भाषामें न हों। अैसे समय अपनी भाषाका कोअी नया शब्द बनानेकी बात सामान्य जनताको नहीं सूझती, क्योंकि अैसा करना स्वाभाविक नहीं है। कभी अुसका समान अर्थवाला दूसरा शब्द मिल जाय, तो भी नया शब्द काममें लानेमें ज्यादा सुविधा हो सकती है। अिसके परिणाम-स्वरूप या तो दोनों ही शब्द चल जाते हैं, या फिर नये शब्दके सामने लोग अपने शब्दको भूल भी जाते हैं। दो असमान धारायें जब मिलती हैं, तब बड़ी या जोरदार धारा छोटी या कमजोर धाराको रोक देती है, यह जिस तरह पानी और हवाके बारेमें होता है, अुसी तरह भाषाओंके बारेमें भी होता है।

दूसरेको अपने मनकी बात समझानेके लिअे ही हम भाषाका प्रयोग करते हैं। अिसमें बोलनेवालेकी अपेक्षा सुननेवालेकी सुविधा ज्यादा महत्त्वकी चीज है। 'आँखके खास डाक्टर' में संस्कृत, अरबी और अंग्रेजी भाषाओंके तद्भव शब्द हैं। फिर भी 'अक्षि-चिकित्सा विशेषज्ञ'

या जैसे ही कोअी दूसरे कठिन शब्द तख्ते पर लिखवाकर कोअी डॉक्टर लगाये, तो मामूली आदमी अुसे आसानीसे समझ नही सकेगा। धंधा करनेकी अिच्छावाला कोअी भी व्यक्ति अैसा नही करेगा। डॉक्टरके बदले वह वैद्य या हकीम भी नही लिखेगा, क्योंकि अिससे अुसकी विशेष चिकित्सा-पद्धतिके सम्बन्धमे भ्रम हो सकता है। भाषाशुद्धिकी दृष्टिसे यह बहुत बडा संकर यानी मिलावट है मगर भाषाशुद्धि कोअी स्वतंत्र रीतिसे की जा सकनेवाली चीज नही है। भाषा जब खुद ही जीवनका साध्य नही बल्कि साधन है, तब अुसकी शुद्धिके बारेमे तो कहा ही क्या जाय?

परन्तु मुसलमान और अंग्रेज हम पर हमला करके, हमे हराकर आये है, अिस विचारसे पैदा हुअे हीनता-ग्रहसे हमारे मनमे अुनकी भाषा संस्कृति, लिपि वगैरा सबके प्रति अरुचि पैदा हो गअी है। यह अरुचि यहा तक बढी कि 'यावनी' या 'म्लेच्छ' भाषाका शब्द कानोंमे पड जाय तो अुठकर नहानेवाले पंडित भी हमारे यहा हो गये है। अिससे अिन भाषाओंको हमारे जीवनमे दाखिल होनेसे हम रोक नही सके। मगर यह अरुचिकी भावना अभी हममे छूटी नही है। अिनकी भाषाके जिन शब्दोंको हमारी जनता कितनी ही पीढियोंसे काममे लाती रही है, अुन्हे बदलनेकी हम कोशिश कर रहे है। और यह कोशिश जहा दो समान और सामान्य शब्द प्रचलित हो अुन्ही तक सीमित नही है, बल्कि अिन प्रजाओं द्वारा दाखिल की हुअी विशिष्ट विद्याओं और प्रणालिकाओंसे सम्बन्ध रखनेवाले खास शब्दों तक भी पहुचती है। मान ले कि 'कम्पनी' के लिअे 'भागीदारी' शब्द अच्छी तरह चल सकता था, और भागीदारी कोअी अंग्रेजों द्वारा दाखिल की हुअी संस्था नहीं थी यह भी सच है। परन्तु पेढी (दुकान) के नामके साथ 'भागीदारी' शब्द जोडनेकी रूढि हमारे देशमें पहले नही थी। यह रूढि हमने अंग्रेजोंके पाससे ली, अिसलिअे ज्यादा बारीकीमे न जाकर अंग्रेजोंके 'कंपनी सरकार' शब्द द्वारा परिचित बना हुआ 'कंपनी' शब्द हमने भी ले लिया। और सौ-डेढसौ बरस तक अिसका अुपयोग हम करते रहे। अब अगर अुसकी जगह

'भागीदारी' शब्द भी नहीं बल्कि 'श्रमंडल' शब्द दाखिल करनेकी हम कोशिश करें, तो अिसे झूठे अभिमानके सिवा और क्या कहा जायगा? अिसी तरह 'transfer-entry' के लिअे गुजरातीमें 'हवाला' शब्द रूढ़ हो गया है, पर वह तो मुसलमानी भाषाका है। वह हमारे मिथ्याभिमानका पोषण नहीं कर सकता। अिसलिअे 'स्थानान्तरण-प्रविष्टि' शब्द सुझाया गया है। अिसी विचारधाराके अनुसार 'agreement' और 'करार' के बदले 'संविदा' शब्द और 'agreement-deed' 'करारनामा' के बदले 'संविदा-लेख' अथवा 'संलेख' जैसे शब्द सुझाये गये हैं। अिस तरह, साहित्य और भाषाके क्षेत्रमें जीवनके अेक अेक विषयमें प्रयुक्त अरबी-फारसी-अंग्रेजीके रूढ़ शब्द निकालकर संस्कृतका जीर्णोद्धार या नया अवतार करनेकी वृत्ति पैदा हो गअी है।

जैसा कि पहले ही लेखमें कहा गया है, हमारे विचार आज दो परस्पर-विरोधी दिशाओंमें काम कर रहे हैं। अेक ओर तो हमें हिन्दू, मुसलमान, सिक्ख, पारसी, अीसाअी वगैराको अेकप्रजाके रूपमें संगठित करना है, जातपांत तथा सम्प्रदायोंके भेद और आपसी मनमुटाव दूर करने हैं, और दूसरी ओर हमें अपनी प्राचीनताका पुनरुद्धार भी करना है। अेक ओर हम सारी दुनियाकी अेकता, सारे अेशियाका संगठन, अखण्ड हिन्दुस्तान वगैरा साधनेकी अिच्छा रखते हैं और दूसरी ओर परदेशी माने हुअे संस्कार, भाषा वगैराको छांटने भी हम पहल करते हैं। और वह भी सैकड़ों बरस साथ रह लेनेके बाद!

यह दृष्टि और चाहे जिसकी हो, पर क्रान्तिकी नहीं है, अेकताकी नहीं है, सुलह-शान्ति-मेलजोलकी नहीं है, अिसलिअे वह अहिंसाकी नहीं है, विद्या तथा प्रगतिकी नहीं है। मेरी समझमें यह दृष्टि संकुचित मिथ्याभिमानकी है।

शिक्षाकी दृष्टिसे अिस प्रश्न पर चौथे भागमें ज्यादा विचार किया गया है।

१३-९-'४७

१२

लिपिके प्रश्न — पूर्वार्ध

भाषाकी भी लिपि बाहरी वस्तु है। वह भाषाको लिखनेमें प्रकट करनेका साधन है। अिसका लिखनेवाले या बोलनेवाली जाति, धर्म, प्रान्त, राष्ट्र वगैराके साथ कोअी सम्बन्ध नहीं होता। देश–स्थानके साथ जरूर सम्बन्ध है। यह देन आनुवंशिक नहीं है। अिसके बारेमें अैसा अभिमान या ममत्व होनेकी जरूरत नहीं है कि जिसमें परिवर्तन करनेसे हमारी जाति छोटी हो जायगी। अिसलिअे भाषा और लिपि दोनोंमें से अेकको छोड़नेका मौका आवे, तो लिपिका त्याग कर देना चाहिये।

हिन्दुस्तानमें आज अनेक लिपियाँ प्रचलित हैं। वर्णमालाके खयालसे अिन लिपियोंके तीन वर्ग किये जा सकते हैं: संस्कृत वर्णमालावाली, फारसी वर्णमालावाली और अंग्रेजी वर्णमालावाली। (अंग्रेजी अिसलिअे कहता हूँ कि रोमन लिपिका अंग्रेजी अनुक्रम और उच्चार-पद्धति ही हिन्दुस्तानमें प्रचलित है, रोमन या यूरोपकी दूसरी भाषाओंकी नहीं।)

अंग्रेजी वर्णमालाकी लिपि अिस तरह संलग्न है कि उसे अेक लिपि भी कहा जा सकता है और चार भी। लिखने और छापनेकी पद्धतियोंमें थोड़ा भेद होनेके कारण और कैपिटल और छोटे अक्षरोंमें थोड़ा भेद होनेके कारण यह चार प्रकारकी बनती है, और फिर भी ये भेद मराठी (बालबोध) और हिन्दी देवनागरीके बीच तथा गुजराती, मोडी, कैथी जैसी पत्र-लेखनकी और नागरी जैसी ग्रन्थ-लेखनकी लिपियोंके बीचके भेदोंसे ज्यादा तीव्र न होनेसे कहा जा सकता है कि वह अेक ही लिपि है।

फारसी वर्णमालावाली लिपिके दो प्रकार हैं: अरबी मरोड़की (जिसका प्रयोग कुरान और छापेमें होता है) और फारसी मरोड़की (जिसका प्रयोग हस्तलेखन और शिलाछापमें होता है)। अिन दोनोंके

बीच जितना ही फर्क है जितना तेलुगु और कन्नड लिपियोंके बीच है। मैंने सुना है कि हिन्दुस्तानसे बाहरके अिस्लामी देशोंमें अब अरबी मरोड ही काममें लाया जाता है। हिन्दुस्तानमें दोनों चलते हैं, मगर मुसलमान प्रजा फारसी मरोडको ज्यादा पसन्द करती है। छापनेकी दृष्टिसे यह बेहद असुविधावाला है। जो पढ सकते हैं अुन्हें कुरान वगैराके कारण पहली लिपिका काफी मुहावरा होता है। फिर भी फारसी मरोडमें लिखनेकी आदत पड जानेके कारण लोगोंमें अरबी मरोडके अक्षरोंके प्रति अितनी अरुचि पैदा हो गअी है कि अरबी मरोडमें छापनेवाले प्रकाशकोंको आखिर हार खानी पडती है। आज पढ-लिख सकनेवाले मनुष्योंकी तादाद बहुत कम होते हुअे भी यह हालत है। शिक्षणके विस्तारके साथ अगर यही टेव जारी रही, तो अिसमें परिवर्तन करना बहुत मुश्किल हो जायगा।

संस्कृत वर्णमालाकी मुख्य लिपियां, जिनमें पुस्तकें वगैरा छापी जा सकती हैं, हिन्दुस्तानके लिअे अितनी गिनाअी जा सकती हैं देवनागरी (दो तरहकी — हिन्दी तथा मराठी), गुजराती, बंगाली, पंजाबी (गुरुमुखी), अुडिया, कानडी, तेलुगु, मलयालम और तामिल। यह कहनेमें कोअी हर्ज नहीं कि अिनमें से आधुनिक तामिलके सिवा दूसरी सभी लिपियोंकी वर्णमाला अेक ही है। अिसके बाद पत्र वगैराके लेखनमें कअी अुपलिपियोंका भी प्रचार है जैसे कैथी, मोडी वगैरा।

अिन सारी लिपियोंको अूपर अूपरसे देखें तो ये अैसी निराली जान पडती हैं, मानो अुनमें से बहुतसी अेक-दूसरेसे बिलकुल स्वतंत्र रूपसे बनी हों। मगर प्राचीन लिपि-संशोधकोंने यह अच्छी तरह दिखला दिया है कि ये सारी लिपियां अेक ही मूल लिपिमें समय-समय पर पडे हुअे और स्थिर बने हुअे अलग अलग मरोडोंका परिणाम हैं। अिस मूल लिपिको ब्राह्मी लिपि कहा गया है। अिस लिपिका आगे चलकर देवनगर (काशी) में जो मरोड स्थिर हुआ, वही आधुनिक देवनागरी है। काशीके प्राचीन सांस्कृतिक महत्त्वके कारण अिस लिपिका सबसे ज्यादा प्रचार तथा आदर हुआ। यह आसानीसे देखा जा सकता है कि गुजराती, कैथी जैसी लिपियां देवनागरीके ही रूपान्तर हैं।

बंगाली, अुडिया या द्राविडी लिपियोंमें यह बात अितनी आसानीसे नजर नहीं आती। ये ब्राह्मी लिपिके सीधे रूपान्तर भी हो सकती है।

अलग अलग प्रान्तोंमें सर्वप्रथम लेखन-कलाको ले जानेवाले पंडितोंके अपने हस्ताक्षर, लिखनेके अधिष्ठान (कागज, भोजपत्र आदि), लिखनेके साधन (स्याही, कलम, लोहेकी लेखनी आदि) वगैरा कारणोंसे अलग अलग जगहोंकी लिपिमें जाने-अनजाने नये मरोड पैदा हुअे जान पडते हैं। अैसा भी लगता है कि कुछ अक्षरोंकी पहले जरूरत न जान पडी होगी और अुन्हें बादमें दाखिल किया गया होगा। यह सब हरअेक प्रान्तमें अेकसाथ या अेक ही तरहसे नहीं हुआ। फिर भी सबके पीछे अेक मूल बुनियादी योजना साफ दिखाअी पडती है। स्वर-योजना, स्वरोंको व्यंजनोंके साथ मिलानेकी योजना, अक्षरों या चिह्नोंको अूपर, नीचे, दाहिनी या बायीं ओर लिखनेकी रीति सब जगह अेकसी मालूम होती है। छापनेकी कला आरंभ होनेके बाद कुछ प्रान्तोंमें अुसमें परिवर्तन हो गये हैं।

यह नहीं कहा जा सकता कि ये लिपियां सिर्फ रूढिके कारण और अनजाने ही बदलती गअी हैं। अिनमें समय-समय पर बुद्धिपूर्वक परिवर्तन किये हुअे भी जान पडते हैं।

जिस तरह अिन लिपियोंका अध्ययन अेक बहुत दिलचस्प विषय है। अिनके स्वरूपकी जांच करने पर अुलटी तरफसे लिखी जानेवाली अरबी-यहूदी लिपियों और बिलकुल अलग दिखाअी पडनेवाली रोमन-ग्रीक लिपियोंमें भी ब्राह्मी लिपिके साथ सगापन दिखाअी पडता है। और अिससे यह अनुमान होता है कि ये सब लिपियां मूलमें अेक ही लिपिसे पैदा हुअी होंगी।

जिस तरह बाप-बेटे बिलकुल अेकसे लगते हैं, दो जुडवां भाअियोंमें भुलावेमें डालनेवाली समानता दिखाअी पडती है, फिर भी वे बिलकुल अेकसे नहीं होते, जैसे हर साल ऋतुअें नियमित रूपसे आती हैं, फिर भी अेक सालकी ऋतुअें पूरी तरह किसी दूसरे सालकी ऋतुओं जैसी नहीं होतीं, अिसी तरह जीवित भाषा, लिपि और वेशको अेकसा रखनेकी हम चाहे जितनी कोशिश करें, वे बिलकुल अेकसे कभी

नही रह सकते। जान-बूझकर हम भले अुनमें कोअी परिवर्तन स्वीकार न करे, पर अनजाने भी अुनमे परिवर्तन हो जाते है। यह मुझे बाप-दादासे विरासतमें मिली हुअी भाषा, लिपि या पोशाक है, अैसा कहना झूठे अभिमानके सिवा और कुछ नही है। अैसा कहनेवालेके पूर्वज कभी न कभी दूसरी ही भाषा बोलते होंगे, दूसरी ही लिपि लिखते होंगे, और दूसरी ही पोशाक पहनते होंगे। कोअी व्यक्ति अपने बाप-दादोंकी अेक भी रूढिसे पूरी तरह चिपका नही रह सकता। कोअी बात अच्छी है अिसलिअे अुसे न छोडनेका आग्रह ठीक है, मगर बापदादोंसे चली आयी है अिसलिअे अच्छी न हो तो भी अुससे चिपके रहनेके आग्रहका क्रान्तिकी बातोंसे कोअी मेल नही बैठता।

दो व्यक्तियोंमें भी अपनी अपनी अलग विशेषतायें होती है और दोनों अेक होनेकी कोशिश करे फिर भी वे विशेषतायें नही जाती। अिसी तरह दो प्रजाओंमें तथा प्रजाके अलग अलग वर्गो वगैरामें अपनी अपनी विशेषतायें रहेगी, परन्तु अिसलिअे अुन्हे अलग रखनेका हठ करना, अुन विशेषताओं पर झूठा अभिमान करना, अुन्हे धर्मका रूप देना ठीक नही है। मनुष्योंके बीच दिलोंकी अेकताके साथ बाहरी अेकता कायम करनेका भी प्रयत्न होना चाहिये। जहा विशि-ष्टता या भेदोंके लिअे जरूरी कारण हो या अमुक भेद रखनेसे मनु-ष्य-जातिका ज्यादा हित किया जा सकता हो, वहा अुन्हे भले रहने दिया जाय। मगर जहा अैसी जरूरत समझमें न आवे, वहा अहिंसक व्यक्तिके लिअे भेदोंको सहन करना लाजमी है। मगर अपने भेदकी पूजा करना ठीक नही है।

मुसलमान अगर धर्मके कारण अुर्दूका आग्रह रखे, प्रान्तवार प्रान्तीय अस्मिताकी वजहसे अपनी अपनी लिपियोंका आग्रह रखें, नागरी लिपिको हिन्दुस्तानकी अस्मिताके लिअे सुरक्षित रखनेका आग्रह हो, रोमन लिपि सिर्फ परदेशी होनेके कारण छोडने लायक जान पडे, तो ये सारी दलीले क्रान्तिकी नही है। विवेकी व्यक्तिको सबके गुण-दोषोंका स्वतंत्र और मानव-हितकी दृष्टिसे विचार करनेके लिअे तैयार रहना चाहिये।

जिन प्रश्नों पर भी तालीमके विभागमें ज्यादा विचार किया गया है।

१५-९-'४७

१२

अेकता और विविधता

भाषा, लिपि, वेश, वंश-विरासत-विवाह-मिल्कियत वगैराके नियम, शिष्टाचार-सदाचार-मान-पूजा-सत्कार वगैराकी रूढ़ियां, घर-गली-गांव-सभा-मंडप आदिकी रचना, आसन-भोजन-स्नान वगैराके रिवाज — ये सब जिस बात पर विचार करनेकी जरूरत खड़ी करते हैं कि अेकता और विविधताका कहां और कैसे विवेक रखा जाय।

दुनियामें विविधतायें तो रहेंगी ही। यह बिलकुल ठीक है कि सबको सोलहों आने अेकसा नहीं बनाया जा सकता। कुछ विविधतायें कुदरतकी बनाओ हुई हैं। अलग अलग जगहोंकी अलग अलग आबहवा, नैसर्गिक सम्पत्ति, सुविधा-असुविधा वगैराके कारण विविधतायें पैदा होती हैं। जिनकी वजहसे खान-पानमें, वेश-भूषामें, घर-गांव वगैराकी रचनामें, पशु वगैराकी विशेषताओंमें और शिष्टाचार-सदाचारकी रूढ़ियोंमें फर्क पड़ता है और अुसे बनाये रखना पड़ता है।

कुछ विविधतायें संपर्कके अभावमें पैदा होती हैं और कुछ नये सम्पर्कोंसे बनती हैं। मूलमें अेक ही भाषा, रीत-रिवाज आदिको माननेवाले जब अेक-दूसरेसे बहुत दूर जा बसते हैं और अुनका आपसमें मिलना-जुलना बन्द हो जाता है, तो अेक ही भाषा (अुच्चारण), लिपि, वेश, रूढ़ि वगैरा धीरे धीरे अितने बदल जाते हैं कि अेक-दूसरेसे बिलकुल भिन्न जान पड़ते हैं। रेलवे आदिके प्रवासकी सुविधाओंके कारण अब पहलेकी अपेक्षा अिस तरहका सम्पर्क कम टूटता है। सम्पर्कके अभावमें पहले 'बारह कोस पर बोली न्यारी' वाली कहावत चरितार्थ होती थी, और सिर्फ बोली ही नहीं बल्कि पगड़ी और जूतोंके आकार भी बदल जाते थे और विवाहकी रूढ़ियोंमें भी भिन्नता आ जाती थी।

कभी कभी जब अेक ही प्रदेशका अेक हिस्सा अेक प्रकारके लोगोंके सम्पर्कमें आता है और दूसरा हिस्सा दूसरे प्रकारके लोगोंके सम्पर्कमें आता है, तब भी विविधता पैदा होती है।

कभी जाने अनजाने कुछ भेद पैदा हो जाते हैं और वे स्थायी बन जाते हैं, और जो लोग अपनेमें ये भेद पैदा नहीं होने देते वे अलग पड जाते हैं।

अिस तरह प्रकृति, देश, काल, क्रिया, रस, शिक्षा-दीक्षा, नित्य-नैमित्तिक प्रसंग, सुविधा-असुविधा वगैरासे विविधतायें पैदा होती हैं और होती रहेंगी।

मगर यह सोचना अेक प्रकारकी भूल है कि ये विविधतायें पैदा होती हैं अिसलिअे अिन सबको रखना ही चाहिये, अिन्हें टालनेकी कोशिश ही नहीं करनी चाहिये, फिरसे अेकता कायम करनेकी कोशिश नहीं करनी चाहिये, अिन विविधताओंमें ही अपनी अस्मिता और अभिमान भर देना चाहिये और अिन विविधताओंमें ही अेकता देखनी चाहिये। विविधताके कारणोंकी जांच किये बगैर अेक ही सांचेमें ढले हुअे मालकी तरह जबरदस्ती अेकता कायम करनेके प्रयत्नमें दूसरे प्रकारकी भूल है।

प्रकृतिके भेद (जैसे स्त्री-पुरुषके, चमडीके रंगके), कुदरतके भेद (जैसे लाल, काली, सफेद, पहाडी, मैदानी, रेगिस्तानी जमीनके, समुद्र-किनारेसे अूंचाओके, रेखांश-अक्षांशके तथा अलग अलग ऋतुओंके) तथा परिस्थितिके भेद (जैसे शान्तिकालके, युद्धकालके, सुकाल-दुकालके, अुम्रके, माता-पिताके, भाव-अभावके) जो विविधतायें निर्माण करते हैं, वे थोडी-बहुत अनिवार्य होती हैं। अिन कारणोंसे पैदा होनेवाले प्रजाओंके जीवन-धारणके भेदोंको सहन करना चाहिये और अुन्हें रखते हुअे भी प्रजाओंके बीच अच्छे सम्बन्ध पैदा करने चाहिये।

मगर शिक्षा-दीक्षाके भेदोंके कारण पैदा होनेवाले भेद और अूपर गिनाये हुअे भेद जिस स्थान या जिस कालमें अनिवार्य हों, अुससे भिन्न स्थान या भिन्न कालमें भी अुन्हें अनिवार्य नहीं मानना चाहिये। गुजरातका आदमी अगर बंगालमें जाकर रहे तो अुसका

गुजराती भाषा, लिपि, वेश, रीति-रिवाज, अुत्तराधिकारके कानून, विवाह आदिकी विधिया, आदर-सत्कार-पूजा वगैराके तरीके साथ ले जाकर अुन्हे कायम रखनेका आग्रह करना या अधिकार मागना अुचित नही है। अलग अलग धर्मके लोगोकी धर्मविधियोमे (यानी देवपूजा तथा प्रार्थना वगैरामे) भले अुनकी मान्यताके अनुसार फर्क हो, परन्तु सामाजिक कार्योमे — जैसे कि सभाओ, सामाजिक सम्मेलनो, विवाह आदिके मौके पर किये जानेवाले स्वागत वगैरामे — हिन्दू अेक तरहसे सत्कार-शिष्टाचार करे और मुसलमान दूसरी तरहसे, अैसा नही होना चाहिये, बल्कि अुस जगहके बहुजन-समाजका जो शिष्टाचार हो, वही सबको स्वीकार करना चाहिये। 'जैसा देस वैसा भेस' वाली कहावतमे बडी समझदारी भरी हुआी है। मगर भेसका मतलब सिर्फ कपडे ही नही, बल्कि भाषा, लिपि वगैरा अूपर गिनाअी हुअी सभी बातोको असमे शामिल समझना चाहिये। कुछ दिनोके लिअे विलायत जानेवाला या अिस देशमे थोडे दिनोके लिअे आनेवाला व्यक्ति अपना वेश कायम रखे, यह बात तो समझमे आ सकती है। मगर कोअी हिन्दुस्तानी विलायतमे लम्बे अरसे तक — मान लीजिये छह महीनो तक — रहना चाहे, या कोअी यूरोपियन या हिन्दुस्तानके बाहरका व्यक्ति यहा अुतने ही समय तक रहना चाहे, तो सभ्यता अपने वेशको पकडे रखनेमें नही बल्कि अुस जगहका वेश वगैरा धारण करनेमें और वहाकी भाषा बोलनेकी कोशिश करनेमे मानी जानी चाहिये। अलग अलग प्रान्तोके बीच तो अैसा विशेष रूपसे होना चाहिये। परन्तु किसी विचित्र अहंभावके वश होकर हम दूसरी जगह रहते हुअे भी वहाकी प्रजाके साथ पूरी तरहसे घुल-मिल जानेके बदले अपनी पुरानी रीतियोमे चिपके रहते है और अैसा करना अपना अधिकार समझते है। नियम यह होना चाहिये कि गुजरातमें बसनेवाले हिन्दू-मुसलमान-पारसी-अीसाअी-अंग्रेज सब गुजरातके लिअे निश्चित किया हुआ वेश ही पहनें, गुजराती भाषा ही अपनावे और गुजराती लिपि ही स्वीकार करे। जिन विषयमें प्रान्तीय विशेषता बिलकुल न हो और सारे हिन्दुस्तानमें सब अेकसे ही रहे — भले अिसमे दो चार विकल्प या प्रकार हो —

तो वह ज्यादा अच्छा है। सारी दुनियामें अैसा किया जा सके, तब भी तात्त्विक दृष्टिसे अुसमें कोअी बुराअी नहीं है। मगर सबके बीच अपना अलग बाड़ा बनाकर रहनेका आग्रह अिष्ट नहीं है और न अिसे कानून द्वारा स्वीकार करवानेकी मांग ही अुचित है। भाषा, लिपि, वेश, रहन-सहन, सदाचार, शिष्टाचार आदि किसी काल और देशके समाजकी सार्वजनिक चीजें हैं, अुन्हें किसी खास वर्गकी चीजें बना देना ठीक नहीं है।

अेक ओर हम अखंड हिन्दुस्तानकी हिमायत करते हैं। हम कहते हैं कि केन्द्रीय सत्ता बलवान होनी चाहिये। देशके टुकड़े होनेका हमारा धाक अभी दूर नहीं हुआ है। हम दो राष्ट्र (नेशन) के सिद्धान्तके लिअे अपना विरोध जाहिर करते हैं। हम चाहते हैं कि अल्पसंख्यक और बहुसंख्यकका सवाल ही न रहे और सब कौमोंके लोग अेक-दूसरेके साथ हिल-मिलकर भाअी भाअीकी तरह अेक हो जायं। जात-पातके भेदभाव तोड़नेका भी हम प्रचार करते हैं। और समाजवादके आदर्शमें भी अपना विश्वास जाहिर करते हैं।

दूसरी ओर हमारी प्रवृत्तियां अिस तरह चलती हैं, मानो हमारे दिलोंमें यह डर बैठ गया है कि अगर सारा हिन्दुस्तान अेक हो गया, केन्द्रीय सत्ता मजबूत हो गअी और जात-पात टूट गअी, तो फिर हमारा व्यक्तित्व क्या रहेगा? 'मैं' भी कुछ हूं या हमारा मंडल भी कुछ है, अिस अभिमानको हम कैसे कायम रख सकेंगे? अिसलिअे हम अपने प्रान्तीय भेदों पर और अुन्हें स्थिर करने तथा बढ़ाने पर जोर दे रहे हैं। तामिल और तेलुगु लोग दुनियाके दूसरे सब लोगोंके साथ रह सकते हैं और काम कर सकते हैं, पर अिन दोनोंका अेक-दूसरेके साथ रहना और काम करना अशक्य है! अिन दोनोंको अेक-दूसरेसे अलग होना ही पड़ेगा। अैसा ही रवैया बंगाली-बिहारीका, कलकत्तामें मारवाड़ी-बंगालीका, मध्यप्रान्तमें हिन्दी-महाराष्ट्रीका और बम्बअीमें गुजराती-मराठी-कानडीका है।

राज्यतंत्रकी सुविधा या भाषाकी सुविधा वगैराकी दृष्टिसे भाषावार विश्वविद्यालयोंकी स्थापना करना या प्रान्तीय शासन-प्रबन्धके

हिस्से करना अेक चीज है। पर अेक भाषा बोलनेवाले आदमियोंकी दूसरी भाषा बोलनेवालोंसे न बने, वे अेक-दूसरेसे अीर्ष्या करें और जीवनके छोटे-बड़े हर क्षेत्रमें भाषाका भेद गाय-भैंसके भेदसे भी ज्यादा महत्त्वका बन जाय, तो अिसे हमारी कलह-प्रियताका ही चिह्न समझना चाहिये।

अेक ओर हम सयुक्त मतदाता-मडलोंका और अुनमें अनिवार्य रूपमें किसीके लिअे खास जगहें न रखनेका कानून बनाते हैं, नौकरियोंमें भी अिसी नीतिकी हिमायत करते हैं। दूसरी ओर हम कानूनसे बाहर अिससे भी ज्यादा मजबूत रूढ़ियां (conventions) कायम करनेकी कोशिश करते हैं। चुनावोंमें अुम्मीदवार खड़े करनेमें, मत्रि-मडल चुननेमें, अुनके सचिव चुननेमें, स्पीकर और डेप्युटी स्पीकरकी पसदगीमें, कमेटियोंकी नियुक्तिमें — कहीं भी सिर्फ योग्यताके आधार पर तो किसीकी पसन्दगी की ही नहीं जा सकती, बल्कि योग्यता गौण बन जाती है। ब्राह्मण-अब्राह्मण, हरिजन, आदिवासी, पिछड़ी हुअी जातियां, पारसी, अीसाअी, मुसलमान, गुजराती, महाराष्ट्री, कानडी, नागपुरी, वैदर्भी, बगाली, बिहारी, स्त्री-पुरुष वगैराका अुचित अनुपात बनाये रखना ही महत्त्वकी चीज हो जाती है। और यह प्रपच अितना बढ़ता जाता है कि यह हरिजन है, मगर भंगी नहीं है, मांग नहीं है, पिछड़ी हुअी जातिका है, मगर बुनकर नहीं है, तेली नहीं है, सुन्नी है, मगर शिया नहीं है, अीसाअी है, मगर अँग्लो-अिंडियन नहीं है, वगैरा वगैरा शिकायतें करते हमें जरा भी सकोच नहीं होता। और अिन शिकायतोंकी निन्दा करनेकी हिम्मत भी किसीकी नहीं होती, क्योंकि खुद नेताओंके ही दिलोंसे यह दृष्टि दूर नहीं होती।

हिन्दी-अुर्दू-हिन्दुस्तानी भाषा और लिपि वगैराके झगड़े, कौमी झगड़े, प्रान्तीय अीर्ष्या वगैरा सबके मूलमें अेक ही चीज है हमारे दिलोंमें क्रान्ति नहीं हुअी है, हम अपनी सकुचित अस्मिताओंको छोड़ नहीं सकते, अिसलिअे छोटे छोटे टुकड़ोंमें बट जानेकी ओर ही हमारा पुरुषार्थ बार-बार जोर किया करता है।

१९-९-'४७

दूसरा भाग आर्थिक क्रान्तिके सवाल

१

चौथा परिमाण

अब आर्थिक सवालोंको लें। किसी पदार्थका माप बतलाना हो और सामान्यतः अुसकी लम्बाजी, चौडाजी और मोटाजी ये तीन परिमाण बतला दिये जायं, तो माना जाता है कि अुसका पूरा वर्णन हो गया। लेकिन आधुनिक भौतिकशास्त्री कहते हैं कि यह वर्णन पूरा नहीं है। अिसके साथ पदार्थके दूसरे दो परिमाण भी बताने चाहियें। वे परिमाण हैं वर्णनके काल और स्थानके। क्योंकि जो पदार्थ धरतीकी सतह पर अमुक परिमाणवाला होता है, वह चन्द्र पर अुसी परिमाणका नहीं रहेगा और गुरु पर अुसका परिमाण और भी बदल जायगा। अिसके सिवा, कालभेदसे भी अुसका माप अलग रहेगा। अिसमें स्थानका महत्त्व जरा विचार करने पर शायद समझमें आ जाता है। फिर वर्णन करते वक्त चूंकि पदार्थके साथ ही अुसके स्थानका अस्तित्व भी हम मानकर चलते हैं, अिसलिये आम तौर पर अुसके विषयमें अलगसे विचार नहीं करना पडता। पर भौतिकशास्त्रियोंका निर्णय है कि स्थानसे भी हर क्षण बदलनेवाले कालका महत्त्व बहुत ज्यादा है और वह आसानीसे समझमें नहीं आता। फिर भी कालके विचारमें से ही आअिन-स्टीनका 'रिलेटिविटी'—सापेक्षताका सिद्धान्त पैदा हुआ, जिसने गुरुत्वाकर्षण वगैराकी पुरानी मान्यताओंमें बहुत परिवर्तन कर दिया। देशका परिमाण पदार्थके साथ ही माना हुआ होनेसे कालको चौथा परिमाण कहा जाता है।

अैसा ही कुछ आर्थिक सवालोंको समझनेके बारेमें है। अेक समय सम्पत्तिके कारणोंमें सिर्फ दो चीजें गिनाना काफी माना जाता था

कुदरत और मजदूरी। यानी कुदरती सामग्रीकी सुलभता और मजदूरीकी सुलभता परसे सम्पत्तिका माप निकाला जाता था। आगे चलकर मालूम हुआ कि सिर्फ ये दो परिमाण काफी नहीं हैं। कुदरती सामग्रीकी और मजदूरीकी सुलभता किसे और किस प्रकारकी है, यह भी सम्पत्तिका माप निकालनेके लिअे अेक महत्त्वका परिमाण है। जिसकी सुलभताका विचार करते करते ही पूंजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, अुद्योगीकरण, राष्ट्रीयकरण, यंत्रीकरण, केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण आदिके अनेक वाद पैदा हुअे हैं। और जिस तरह खान-पान, धर्म वगैराके भेदोंके कारण आपसमें झगड़नेवाले अनेक वर्ग बनते हैं, अुसी तरह अिन वादोंके आग्रहसे भी बने हैं।

बहुत बार जैसे कानूनकी मददसे कुछ धर्म अपना वर्चस्व जमाते हैं, वैसे ही अलग अलग वादोंको माननेवाले भी जैसे किसी अेक वादका वर्चस्व कायम करनेकी कोशिश करते हैं। जहांका राज्यतंत्र अिस कोशिशके अनुकूल नहीं होता, वहां अुस तंत्रको ही बदलनेकी कोशिश होती है। किसी वादकी स्थापनाको आर्थिक क्रान्ति कहते हैं और अुसके लिअे राज्यतंत्रके परिवर्तनको राजनीतिक क्रान्ति कहते हैं। अिस तरह क्रान्तिका अर्थ (आम तौर पर कुदरती सामग्रीके अधिकार और व्यवस्थासे सम्बन्ध रखनेवाले) किसी नये वादकी जबरदस्ती या कानूनी ढंगसे स्थापना करना हो गया है।

परन्तु सम्पत्तिका माप निकालनेके लिअे कुदरती सामग्री, मजदूरी और अुनसे सम्बन्ध रखनेवाला वाद ये तीन परिमाण काफी नहीं हैं। अिसमें दूसरे दो परिमाणों पर विचार करना शेष रहता है। ये दो परिमाण अगर शून्य हों, तो विपुल कुदरती सामग्री, विपुल मजदूरी और किसी सर्वश्रेष्ठ वाद पर रचा हुआ राज्यतंत्र तीनोंके होते हुअे भी सम्पत्तिके गणितका जवाब शून्य (यानी विपत्ति लानेवाला) निकल सकता है। जिस तरह किसी पदार्थका शुद्ध गणित करनेमें देश और काल महत्त्वके परिमाण हैं, अुसी तरह सम्पत्तिका गणित करनेमें दो महत्त्वके परिमाणोंकी अपेक्षा रहती है। वे हैं प्रस्तुत प्रजाका ज्ञान और चरित्र।

अिनमें से ज्ञानका महत्त्व आज आम तौर पर सभी स्वीकार कर लेंगे। ज्ञानमें कौन कौनसी बातोंको शामिल करना चाहिये, किन्हें कितना महत्त्व दिया जाय, अिसके बारेमें थोडी अस्पष्टता या मतभेद शायद रह सकता है। यह कहनेकी जरूरत नहीं कि यहां ज्ञानका मतलब 'अपरा विद्याओं' (ब्रह्मविद्याके सिवा अन्य विद्याओं) से सम्बन्ध रखनेवाले ज्ञानसे है। फिर भी अुसकी आवश्यकताके सम्बन्धमें निवृत्तिवादी (दुनियाकी झंझटोंसे दूर रहकर अेकान्तवास करनेवाले) के सिवा दूसरा कोअी शायद ही शंका करेगा। यह परिमाण गृहीत किये जैसा ही है।

चरित्रके महत्त्वके बारेमें यों तो सभी अेकमत हो जायेंगे। निवृत्तिवादी भी अुसकी जरूरतसे अिनकार नहीं करेगा। भौतिकवादी भी मुंहसे अुसकी आवश्यकताको अस्वीकार नहीं करेगा। फिर भी जिस तरह पदार्थका माप दिखानेमें कालके निर्देशका महत्त्व आसानीसे ध्यानमें नहीं आ सकता, अुसी तरह चरित्रका महत्त्व मनुष्योंके — नेताओंके या जनताके — ध्यानमें नहीं रहता। अिस सम्बन्धमें यह आशा रखी जाती है कि चरित्रकी कमीकी पूर्ति कानून या दंडकी व्यवस्था द्वारा हो जायगी। राजनीतिक क्रान्तिसे, नये प्रकारके वाद पर कायम की हुअी आर्थिक व्यवस्थासे या राज्यतंत्रके संचालकोंमें जबरदस्त फेरबदल करनेसे जनताका चरित्र अूंचा नहीं अुठता। अुलटे अैसे अेकाअेक और अनपेक्षित फेरबदलसे कअी अनिष्ट तत्त्व भी दाखिल हो जाते हैं। राज्य द्वारा की जानेवाली नये धर्मकी स्थापनासे भी चरित्र अूंचा नहीं होता। अिस पर हम अलगसे विचार करेंगे। यहां तो अिस बात पर जोर देनेकी जरूरत है कि कुदरती सामग्री, मनुष्य-बल, अनुकूल राज्य और अर्थवादकी स्थापना तथा ज्ञान — जिन सबके रहते हुअे भी अगर योग्य प्रकारका चरित्र-धन नेताओं और प्रजाके पास न हो, तो अिस अेक ही कमीके कारण देश और प्रजा दुःख और गरीबीमें डूब सकते हैं। अिस चौथे परिमाणका महत्त्व अच्छी तरहसे हमारी समझमें आना चाहिये।

२१-९-'४७

२

चरित्र-निर्माण

कुदरत, मजदूरी, ज्ञान, योग्य राज्यतंत्र और अर्थ-व्यवस्थाके साथ चरित्र भी समाजकी समृद्धिके लिअे अनिवार्य और महत्त्वका धन है, जिसे स्वीकार करनेके बाद जिसकी वृद्धिके अुपायों पर विचार करना शेष रहता है।

'चौथा प्रतिपादन' वाले प्रकरणमें चरित्रके मुख्य अंग गिनाये गये हैं। अेक ही बात दुबारा कहनेका दोष अपने सिर लेकर भी मैं अुन्हें यहां फिरसे गिनाता हूं :

जिज्ञासा, निरलसता, अुद्यम,
अर्थ तथा भोगेच्छाका नियमन।
शरीर स्वस्थ तथा वीर्यवान,
अिन्द्रियां शिक्षित स्वाधीन,
शुद्ध, सभ्य वाणी-अुच्चारण,
स्वच्छ, शिष्ट वस्त्र-धारण,
निर्दोष, आरोग्यप्रद, मित-आहार,
संयमी, शिष्ट स्त्री-पुरुष-व्यवहार।
अर्थ-व्यवहारमें प्रामाणिकता तथा वचन-पालन,
दम्पतीमें सम्मान, प्रेम व सविवेक वंश-वर्धन,
प्रेमल विचारयुक्त शिशु-पालन
स्वच्छ व्यवस्थित, देह-घर-ग्राम,
निर्मल, विशुद्ध जलधाम,
शुचि, शोभित सार्वजनिक स्थान।
समाज-धारक अुद्योग तथा यंत्र-निर्माण,
अन्न-दूध-वर्धन प्रधान,
सर्वोदय-साधक समाज-विधान।

मैत्री-सहयोगयुक्त जन-समाश्रय,
ये सब मानव-अुत्कर्षके द्वार
समाज-समृद्धिके स्थिर आधार।

अिन गुणोंकी समाजमें वृद्धि हो, अिस अुद्देश्यसे यहाँ हम अुनके साधनाके बारेमें विचार करेंगे।

अिस सम्बन्धमें दो-तीन तरहकी प्रणालियाँ व्यवहारमें लायी जाती हैं। सुविधाके लिअे अुन्हें दीक्षा-पद्धति, शिक्षा-पद्धति और संयोग-निर्माण (environment) पद्धति नाम दिये जा सकते हैं।

पहली पद्धतिमें दीक्षा या सदुपदेश पर जोर दिया जाता है। बार-बार अमुक बात प्रजासे कहते रहना, अुसका अुपदेश देनेवाली पुस्तकोंका श्रवण-वाचन-मनन कराना, अुसकी फलश्रुति बतलाना, अुससे सम्बन्ध रखनेवाली कथाअें कहना, जप जपवाना (नारे लगवाना) आदि प्रयत्न अिसमें शामिल हैं।

दूसरी पद्धतिमें शिक्षा या तालीम पर और पुरस्कार तथा दंड पर जोर दिया जाता है, जैसे बचपनसे जरूरी आदतें डालना, मनुष्यके गले अुतरे या न अुतरे, वह समझे या न समझे, अुसे अैसे अनुशासनमें रख देना कि अुसके मुताबिक बरतनेकी अुसे आदत पड़ जाय, आदत डालनेके लिअे अुचित तरीकोंसे अिनामका लोभ या दण्डका भय भी बतलाना, चरित्रके अंगोंका अभ्यास करके बार बार कवायद करवा कर अुन्हें अितना दृढ बना देना कि अुनका आचरण यंत्रवत् होने लगे।

तीसरी पद्धतिमें अैसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग पैदा करने पर जोर दिया जाता है, जिनसे योग्य प्रकारके चरित्रकी ओर मनुष्यका स्वाभाविक झुकाव हो। बचपनसे ही भीलको बाघ-चीतेका, ग्वालेको साँप-बैलका और शहरी आदमीको मोटरों और ट्रामोंकी दौड़ादौड़का भय नहीं लगता। खलासी चलती स्टीमरसे अितने अूँचे बाँस पर मजेसे चढ़ जाता है, जहाँसे नीचे देखने पर दूसरे किसीकी आँखोंमें अँधेरा ही छा जाय, भरे समुद्रमें भी अैसा करनेमें वह नहीं घबराता, मगर पण्डितके लड़केको रसपूर्ण लगनेवाली चर्चामें अुसे नींद आ जाती है। साहस पैदा करनेवाले संयोगोंसे साहस पैदा होता है और वार्ताकी रुचि

अुसके अपने अनुकूल सयोगोसे अुत्पन्न होती है। जिसे चार व्यक्ति मिलकर ही कर सकते हो, अैसे काम करनेकी प्रवृत्तिमे शामिल होनेसे जिस प्रकारके सहयोगकी आदत पडती है। जिसे सिर्फ अकेले हाथो ही काम करनेके सयोग मिले हो, सम्भव है अुसे किसीके साथ काम करते ही न बने। परस्पर प्रेमकी भावनावाले परिवारमे पले हुअे बच्चो और साथ रहते हुअे भी अपना ही स्वार्थ साधनेवाले भाअियो, देवरानी-जिठानियो, सास-बहुओ वगैराके बीच पले हुअे बच्चोके चरित्रमे बहुत फर्क पड जाता है। जहा अन्न खाये नही खूटता, पानीकी कमी नही होती, अैसे देशमे अतिथि-सत्कारका गुण स्वाभाविक होता है, अुदारता, दान वगैराकी वृत्तिया भी होती है। यही देश जब अन्न-जलसे मोहताज हो जाता है तब मनुष्योको कजूस — अनुदार — बना डालता है। जिस तरह जैसा चरित्र निर्माण करना हो, अुसके अनुकूल बाहरी सयोग निर्माण करना तीसरी पद्धतिका ध्येय है।

पहली दो पद्धतिया पुराने जमानेसे प्रसिद्ध है, और आज तक अुन्ही पर ध्यान दिया गया है। हमारे देशमें अभी अिन दो पर ही ज्यादा जोर दिया जाता है। अिधर कुछ समयसे पश्चिमके विद्वान तीसरी पद्धति पर ज्यादा जोर दे रहे हैं। हमारे यहा अभी तक अुसकी ओर कोअी ध्यान नही दिया गया है।

तेज, जातवान, अच्छे घोडेको दौडनेकी प्रेरणा करनेके लिअे मालिकके मुहका अेक शब्द काफी होता है। यह दीक्षा-पद्धति है। अनगढ, जिसे तालीम देनेमे ज्यादा मेहनत न की गअी हो अैसे घोडेको हाक और चाबुकसे प्रेरणा की जाती है या अुसके आगे लालचकी चीज रखी जाती है। यह शिक्षा-पद्धति है। दीमक, चींटी, मधुमक्खी, भौंरा, पतिगा, पक्षी वगैरामें सयोग ही अुनको अपनी अपनी प्रवृत्तियोमे लगानेवाला चरित्र पैदा करते है। सयोग बदलने पर भिन्न प्रकारकी आदतोवाली जातिया पैदा हो जाती है।

मनुष्योमे कुछ व्यक्ति तेज, जातवान घोडे जैसे होते है, अुनके लिअे दीक्षा-पद्धति काफी होती है। सबको अनगढ घोडेकी तरह जरूर रखा जा सकता है। मगर अिससे जातवान घोडे बिगडेगे और

साधारण घोड़े जीवनभर अनगढ़ — पर-प्रेरित ही बने रहेंगे। वे कभी सच्चे अर्थमें चरित्रवान नहीं बनेंगे। अिसी तरह सब मनुष्योंके लिअे शिक्षा-पद्धति काममें लाअी जा सकती है मगर अुससे चरित्रको अूंचा अुठानेमें पूरी सफलता नहीं मिल सकती। ज्यादासे ज्यादा यंत्रवत् आचरण करनेकी कुछ आदतें अुनमें भले पड़ जाय। फिर भी, यह पद्धति कुछ हद तक तो रहेगी ही।

परन्तु यह समझना ज्यादा ठीक है कि मनुष्य मुख्य रूपसे मक्खीकी जातिका प्राणी है। वह घरकी मक्खियोंकी तरह असभ्य होकर भी असंगठित और निश्चरित्र हो सकता है, या अुचित संयोगोंमें मधुमक्खी जैसा व्यवस्थित भी रह सकता है। और जंगली मधुमक्खीसे लेकर बक्समें रहनेवाली मधुमक्खी तक यह अनेक जातियोंवाला हो सकता है।

चरित्र-निर्माणके लिअे अुचित संयोग निर्माण करनेकी जरूरतों पर ध्यान देना बहुत जरूरी है।

चरित्र-निर्माणके लिअे कुछ अंशोंमें अुचित अनुकूल संयोगोंकी और कुछ अंशोंमें अुचित प्रतिकूल संयोगोंकी जरूरत होती है। अतिशय अनुकूलतायें चरित्रको शिथिल बना सकती हैं और अतिशय प्रतिकूल संयोग मनुष्यको और अुसके चरित्रको कुचल सकते हैं। अनुकूलतायें और प्रतिकूलतायें यदि अुचित मात्रामें रहें, तो वे चरित्र-वर्धक साबित होती हैं। अलबत्ता, अिनके साथ चरित्रके अनुरूप शिक्षा-दीक्षा भी होनी चाहिये।

मनुष्य किस हद तक स्वाधीन — संयोगोंका स्वामी और निर्माण करनेवाला है और किस हद तक संयोगोंके अधीन, पराधीन प्राणी है, अिस सवालका निश्चित जवाब देना कठिन है। परन्तु बहुजन-समाजकी दृष्टिसे यदि हम अैसा मानकर चलें कि मनुष्य ज्यादा अंशोंमें संयोगोंके अधीन है और कुछ अंशोंमें वह स्वाधीन और संयोगोंका स्वामी तथा निर्माण करनेवाला भी है, तो मेरा खयाल है कि भूलें नहीं होंगी, और अगर होंगी भी तो कमसे कम होंगी।

मनुष्यका यह स्वभाव है कि अपने हाथों अनजाने हुअी गलतियोंका सारा दोष वह संयोगोंके सिर मढ़कर अपना बचाव करता

है, मगर दूसरेको अुसकी भूलोंके लिअे दोष देते वक्त वह अैसा मानकर चलता है कि दूसरा आदमी स्वाधीन ही है, और कहीं दूसरे आदमीकी भूले अुसके ध्यानमें पहले भी आअी हो, तब तो वह खास तौर पर अैसा करता है। अिससे अुलटे, अपनी सफलताओंको वह अपनी ही कार्य-कुशलताका परिणाम समझता है, और दूसरेकी सफलताओंको अुसे प्राप्त हुअे अनुकूल सयोगोंका परिणाम मानता है।

बहुजन-समाजको जिस दिशामे मोडना हो, जैसा चरित्र अुसमें निर्माण करना हो, जिस दिशामे अुसे लौटाना हो, अुसके लिअे दीक्षा और शिक्षासे भी ज्यादा योग्य — अनुकूल या प्रतिकूल — सयोग पैदा करना समाजके निर्माताओंका लक्ष्य होना चाहिये। राज्य-व्यवस्था, विकेन्द्रीकरण, यन्त्रीकरण, समाजवाद वगैरा जिस हद तक अैसे सयोग पैदा करते हैं अुसी हद तक अुनका महत्त्व है। परन्तु यह नहीं समझना चाहिये कि अितनेसे ही सारे काम बन जायेंगे।

२२-९-'४७

२

दीर्घकालीन और अल्पकालीन योजनाअें

अगर हमें अिस बातका पूरा पूरा भान हो जाय कि किसी भी समाजकी समृद्धिके लिअे अुसकी प्रजाका चरित्र-गठन बडे महत्त्वकी चीज है, तो जो विविध योजनाअें हम बनाते है, विविध आन्दोलन चलाते हैं तथा अेक-दूसरेके गुणदोष निकालते हैं, अुन सबका स्वरूप बहुत बदल जाय। हम सब यह चाहते हैं कि देशकी आर्थिक समृद्धि बडी तेजीसे बढे। हम सब यह महसूस करते हैं कि देशकी आबहवा और कुदरती सम्पत्तिको देखते हुअे कोअी कारण नहीं है कि भारतकी प्रजा अैसी गरीबीके कीचडमें फसी रहे। पूजीवादी, समाजवादी, गाधीवादी, साम्यवादी सबके बीच तीव्र मतभेद होने पर भी हरअेकका ध्येय देशको धनधान्यसे समृद्ध करना है। अिस ध्येयके सम्बन्धमें कोअी मतभेद नहीं है।

अलग अलग प्रकारकी राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक वगैरा व्यवस्थायें कायम करके, अल्पकालीन और दीर्घकालीन योजनायें बनाकर सब कोअी देशकी कुदरती सपत्तिका ज्यादासे ज्यादा लाभ अुठानेका हिसाब बैठानेमें लगे हुअे है। बालिग मताधिकार (adult-franchise), अुद्योगीकरण (industrialization), राष्ट्रीयकरण (nationalization), विकेन्द्रीकरण (decentralization), सहकारी खेती और गोपालन, बलवान केन्द्रीय सत्ता (strong central government) वगैरा विविध प्रवृत्तियोंका — अुनके बीच कभी कभी परस्पर-विरोध पैदा होनेके बावजूद — अेक ही अुद्देश्य है देशकी कुदरती सम्पत्ति ज्यादासे ज्यादा बढे और अुसका लाभ ज्यादासे ज्यादा लोगोंको मिले। अिसके लिअे अेक ओर तो मनुष्य आपसमें अेक-दूसरेका गला काटनेको तैयार है और दूसरी ओर सुलेह-शान्ति कायम करनेके लिअे बेचैन भी है। अेक ओर वह पाकिस्तान-हिन्दुस्तान, अरबस्तान-यहूदिस्तान बनाता है, अेटम-बम और कास्मिक-किरणोंकी शोध करता है और दूसरी ओर सयुक्त राष्ट्रसघ (UNO) की प्रवृत्तिया भी चलाता है।

देशकी कुदरती सम्पत्तिका बारीकीसे हिसाब लगानेमें कअी अर्थ-शास्त्री जुटे हुअे है। अिस सम्पत्तिका कैसा कैसा अुपयोग हो सकता है, अिस बातकी शोधमें बडे बडे वैज्ञानिक दिनरात अेक कर रहे है। धनपति और राज्यतत्र अिस बातकी जबरदस्त कोशिश कर रहे है कि अिन शोधोंका पहला लाभ अुन्हे मिले।

अिसमें शक नही कि ये सारी प्रवृत्तिया महत्त्वपूर्ण और जरूरी है। ये अनुकूल परिस्थितिया (environments और conditions) निर्माण करनेके प्रयत्नका ही अेक भाग है। मगर यह भी याद रखनेकी जरूरत है कि अितना सब होते हुअे भी अगर प्रजामें योग्य प्रकारकी चरित्र-सम्पत्ति न हो, तो यह अक-रहित शून्य जैसा ही नही, बल्कि विनाशका कारण भी बन सकता है। अिसलिअे सिर्फ सम्पत्तिके अुत्पादन और बटवारे आदिको ही ध्येय बनाकर अुसके अनुकूल परिस्थितिया पैदा करनेकी कोशिश नही होनी चाहिये, बल्कि सम्पत्तिका अुत्पादन जिसका अेक नतीजा है अुस चरित्र-धनको निर्माण

करनेवाली परिस्थिति पैदा करनेका प्रयत्न होना चाहिये। अिस बातका ध्यान न रखकर लगाये जानेवाले सारे हिसाब प्रत्यक्ष अनुभवमें गलत साबित हो सकते है।

लम्बी योजना और छोटी योजना ये दो शब्द हम बहुत बार सुनते है। मगर लम्बी या छोटी योजनामे लम्बे समय और लम्बी दृष्टिकी योजनाका तथा थोडे समय और छोटी दृष्टिकी योजनाका फर्क हमें समझना चाहिये। दस वर्ष बाद देशमें भरपूर अनाज और कपडा होने लगे अैसी दस वर्षकी योजना बनाअी जा सकती है और बनानी भी चाहिये। परन्तु अुसके कारण अगर आनेवाले छह महीनो तक अन्न-वस्त्र बिलकुल न मिल सकें, तो यह लम्बी योजना निरुपयोगी रहेगी। और छह महीनोका अुचित प्रबन्ध न होनेके कारण ही निष्फल सिद्ध हो सकती है। अिसलिअे अुसके साथ छोटी — यानी अल्पकालीन योजना भी होनी ही चाहिये।

मगर लम्बे समयकी या थोडे समयकी योजनाके पीछे यदि दृष्टि छोटी हो, तब भी सारी योजना धूलमें मिल सकती है।

जैसे बने तैसे जल्दी स्वराज्य हासिल करना चाहिये, अैसा देशके नेताओने सोचा। अिच्छासे या अनिच्छासे अग्रेजोको भी लगा कि भारतको स्वराज्य देना चाहिये। मगर मुस्लिम लीगको किसी भी तरह समझाया न जा सका। अुसने खूब धाधली मचाअी। नतीजा यह हुआ कि अखड हिन्दुस्तानके बारेमें जिनका बहुत तीव्र आग्रह था, अुन पजाब और बगालके हिन्दू-सिक्ख नेताओने ही अपने अपने प्रान्तके टुकडे करने और पाकिस्तान दे देनेका छोटा रास्ता अख्तियार करनेकी अिच्छा प्रकट की। यह छोटा रास्ता तत्काल परिणाम देनेवाला था, जिसलिअे मुस्लिम लीगने अिसे मजूर किया, हिन्दू और सिक्ख नेताओने अिसकी माग की और काग्रेसको अुसे स्वीकार करना पडा। सबने तत्काल स्वराज्य-स्थापनाका परिणाम तो देखा, मगर अुसके दूसरे परिणामोकी कल्पना किसीके दिमागमें नही आयी।

अिस छोटे मार्गके पीछे रहनेवाली मूल कल्पना भी छोटी दृष्टिकी थी, सकुचित थी। मुसलमानो और गैर-मुसलमानोके बीचका द्वेष

अिसके मूलमें था। अिसमें यह मान लिया गया था कि मुसलमान और गैर-मुसलमान मिलकर अेक राज्य कभी चला ही नही सकते और अिसकी जडमें द्वेषका यही पानी अिरादतन सींचा गया था। यानी यह मान लिया गया था कि हिन्दुस्तानके दो भाग हो जानेसे दोनोंको अपने अपने स्वतत्र क्षेत्र मिल जायेंगे। मगर अिस परिणामकी किसीने कल्पना नही की कि जो मुसलमान और गैर-मुसलमान मिल कर अेक राज्य नही चला सकते, वे अेक गाव या अेक शहरमें भी साथ साथ नही रह सकेंगे। द्वेषका पानी पिये हुअे लोगोंने जब अिसे साबित कर दिखाया तब कही यह बात हमारी समझमें आयी। तब लोगोने स्वाभाविक रूपमें हिजरतका छोटा और आसान लगनेवाला रास्ता अख्तियार किया। और दोनों राज्योंको लाचार होकर अुसका साक्षी और व्यव-स्थापक बनना पडा। आज हजारों-लाखोंकी संख्यामें लोग अेक राज्यसे दूसरे राज्यमें हिजरत कर रहे हैं और अपार कष्ट भोग रहे हैं।

मगर यह माननेमें भूल होगी कि अिससे अिस समस्याका अन्त हो जायगा। क्योंकि जो मुसलमान और गैर-मुसलमान अेक गावमें साथ नही रह सकते, अेक राज्य नही चला सकते, वे कमसे कम हिन्दुस्तानमें तो पाकिस्तान और हिन्दुस्तान बनाकर भी शान्तिसे नही रह सकेंगे। यह माननेका कोअी कारण नही है कि द्वेष दो कौमोंको अलग अलग करके ही रुक जायगा। अिसलिअे यह द्वेष अिस रूपमें फैलेगा कि या तो अिस पूरे देशमें सब मुसलमान ही मुसलमान रहे या सब गैर-मुसलमान ही रहे। अिसमें से बादमें अेक नया विश्वयुद्ध भी पैदा हो सकता है। अिस तरह सारे अेशिया और सारे जगतको अेक करनेका मनोरथ धूलमें मिल सकता है, और अेक ओर दुनियाके सारे मुसलमानों और कुछ दूसरे देशों तथा दूसरी ओर गैर-मुसलमानोंके बीच भयकर युद्ध जम सकता है।

जो योजना मुसलमानों तथा गैर-मुसलमानों (हिन्दू, अीसाअी, सिक्ख, पारसी, यहूदी, चीनी जो भी हों) का — अुनकी कम या ज्यादा तादादके बावजूद — अेक पडोसमें, अेक गावमें, अेक राज्यमें सबके साथ

रहना सिखलावे, वही योजना, वह थोडे समयकी हो या लम्बे समयकी, अिस समस्याका अन्त ला सकेगी। अगर मुसलमान लोग अलग रहकर अिस समस्याको अपने बीच हल कर सके होंगे, तो यही समस्या फिर हिन्दू, सिक्ख, पारसी, अीसाअी वगैराके बीच खडी होगी। क्योंकि जो द्वेष-भावना अिसके मूलमें है, वह पूरी तरह नष्ट नहीं होगी। और अगर मुसलमान भी अिस समस्याको हल न कर सके, तो जिस तरह यूरोपके देश अीसाअी होते हुअे भी अेक-दूसरेके साथ कुत्तोंकी तरह लडते हैं अुसी तरह ये भी आपसमें लडेंगे। क्योंकि द्वेषकी आगको जब बाहरकी खुराक मिलना बन्द हो जायगी, तब वह भीतरी भागको ही जलाने लगेगी।

पाकिस्तानके — बटवारेके — पीछे रहनेवाली मूल भावना मनुष्य-मनुष्यके बीच अप्रेम यानी द्वेष पैदा करनेवाली, चरित्रको हीन बनानेवाली है, अिसलिअे अुसमें से जन्म लेनेवाली योजना अल्पकालीन हो चाहे दीर्घकालीन, वह बुरी ही रहेगी।

अिस चर्चाका हेतु अिस जगह तो अितना ही है कि योजना अल्पकालकी हो तब भी वह अल्पदृष्टिकी नहीं होनी चाहिये, और अिस बातकी कभी अुपेक्षा नहीं होनी चाहिये कि प्रजाके चरित्र पर अुनका क्या असर होता है। योजनाओंका परिणाम प्रजाके चरित्र पर कैसा प्रभाव डालता है, अिसका पाकिस्तान और भारतके बटवारेका प्रयोग अेक जबरदस्त अुदाहरण है।

२-१०-’४७

४

धन बढानेके साधन

देशकी आर्थिक स्थितिको मजबूत बनानेके सम्बन्धमें आजके अलग अलग वादोंको माननेवालोंमें कोअी मतभेद नही है। गांधीवादी दूसरे अुद्योगोंके सम्बन्धमें चाहे जितना अुदासीन रहे, मगर अनाज और दूसरे खाद्य-पदार्थ, दूध, घी, कपडा, सुदृढ गात्र और घर, अच्छे रास्तों वगैराकी आजके मुकाबले कअी गुनी वृद्धि होनी चाहिये, अिस सम्बन्धमें वह अुदासीन नही है।

मतभेद होते हैं धन बढानेकी मर्यादा और रीतिके सम्बन्धमें। जीवनकी कितनी बातोंमें मनुष्यको स्वावलम्बी ही रहना चाहिये, कितनी बातोंमें अेक-दूसरे पर ही निर्भर रहनेकी आदत डालनी चाहिये, किस हद तक जरूरतें घटानी या बढानी चाहिये, पैदावार वगैराके तरीके कितने सादे और सस्ते होने चाहियें, या किस हद तक पेचीदा यान्त्रिक विकास स्वीकार करना चाहिये, जीवन कितना असुविधायें सहनेवाला या सहनशील होना चाहिये और कितना सहूलियतें खोजनेवाला और आरामपसन्द होना चाहिये — अिन बातोंमें मतभेद होता है।

विचार करने पर जान पडेगा कि अिन मतभेदोंके मूलमें दृष्टिभेद अिसी प्रश्न पर है कि मानव-चरित्रके अलग अलग पहलुओंको कितना महत्त्व देना चाहिये। अर्थशास्त्रके सिद्धान्तोंकी अपेक्षा नीतिके तथा भावनाके अुत्कर्षसे सम्बन्ध रखनेवाले सिद्धान्तोंके बारेमें ज्यादा अस्पष्टता है।

अेक बार मैंने अेक दुकानमें पीपरमेण्टके फूलकी बोतलें देखी। पाव औंससे लेकर दो औंस तककी बोतलें थी। मगर मैंने देखा कि बाहरसे ये सारी बोतलें समान कदकी और मुंह तक भरी हुअी दीखती थी। कुतूहलवश जब मैंने बोतलोंको हाथमें लिया, तो वे मुझे कुछ नीचे जैसी मालूम हुअी
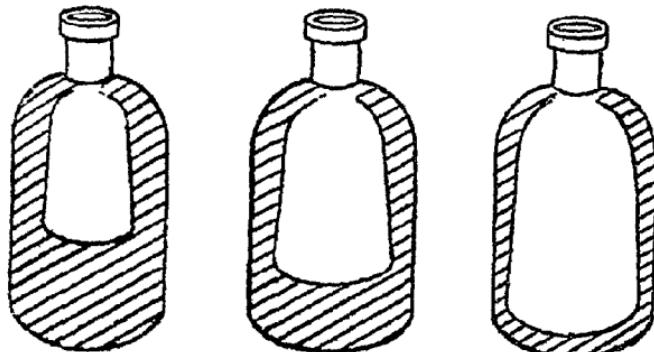
अिस तरह बोतलोंकी दीवालोंकी मोटाअीके भेदकी वजहसे बाहरसे अेकसी और मुह तक भरी हुअी दीखते हुअे भी अुनमे भरे फूलका प्रमाण कम-ज्यादा था। अिनमे से पहली बोतलकी दीवालको अगर भीतरसे घिसा जाय, तो वह दूसरी या तीसरीके बराबर मोटी हो सकती है, फिर भी बाहरसे अुसके कदमे कोअी फर्क नही करना पडेगा।

मनुष्य कुछ हद तक अिन बोतलो जैसे है। सभी मानव-प्राणी अेकसी बोतलोमे भरे हुअे है। जिस तरह अूपरकी बोतलोका सफेद, लाल या पीली वगैरा होना अुनके भीतरकी चीजको समानेके लिअे महत्त्वकी बात नही, परन्तु अुनकी दीवालोंकी मोटाअी ही महत्त्वकी चीज है, अुसी तरह मनुष्यकी चमडीके भेद या अुसके पूर्व अथवा पश्चिममे पल-पुसकर बडा होने वगैराके बाहरी भेद अुसमे समाये हुअे गुणोके सम्बन्धमे महत्त्वके नही है। महत्त्वकी बात यह है कि अुसकी भावनारूपी दीवाले स्थूल है या सूक्ष्म, सस्कारी है या असस्कारी। जिस तरह बाहरसे अेकसी दिखाअी पडनेवाली बोतलोको अुनमे ज्यादासे ज्यादा वस्तु समा सके अैसी बनानेके लिअे अुनकी अन्दरकी दीवालोको —बोतल टूट न जाय और बहुत कमजोर न बन जाय अिस तरह सभाल कर— घिसना चाहिये, अुसी तरह बाहरसे अेकसे लगनेवाले मनुष्योको ज्यादासे ज्यादा कीमती बनानेके लिअे, अुनका शरीर टूट न जाय और बहुत कमजोर न हो जाय अिस तरह सभालकर, अुनकी नैतिक भावनाओको

सूक्ष्म बनाना मानवकी सारी योजनाओंका ध्येय होना चाहिये। जिस तरह बोतलको घिसनेके लिये रेत, जुदी जुदी जातिके और मापके घर्षक (abrasives) वगैरा साधन चाहिये और हरअेक बोतलकी जांच करके अुसके लिये अुचित रीतियां और साधनोंका अुपयोग करना चाहिये, अुसी तरह भावनाओंको संस्कारी बनानेके लिये अलग अलग मनुष्योंके लिये ही नहीं, बल्कि हरअेक मनुष्यके लिये अलग अलग समय पर अलग अलग तरीके आजमाने पड़ेंगे। पूरी मानव-जातिको हमेशाके लिये अेक ही लकड़ीसे हांकनेका तरीका काम नहीं देगा।

और किसी मामलेमें हम भुलावमें और विचार-भेदोंमें पड़ते हैं। या तो हमारी कोशिश यह होती है कि सभी साधनोंका राजा कोअी अेक साधन ढूंढ निकाला जाय और अुन सब पर लागू किया जाय। यह कोशिश दो जगहोंके बीचके अन्तरको सेर और तोलेसे बताने या बुखारको फुटपट्टीसे नापनेकी प्रवृत्ति जैसी है।

अथवा हम गलतीसे अैसा समझते हैं कि चूंकि अिस काममें अनेक साधनोंकी जरूरत पड़ती है, अिसलिअे अिसमें व्यवस्था लानेकी कोशिश करना व्यर्थ है और हरअेक व्यक्तिका रास्ता स्वतंत्र ही होना चाहिये। यह कहना वैसा ही है जैसे यह कहना कि चूंकि तोलके, वजनके तथा गरमी, वायु, बिजली वगैराके मापके साधन और परिभाषायें अलग अलग होती हैं, अिसलिअे मापकी व्यवस्था ही नहीं की जा सकती।

अिसी तरह सभी मनुष्य सात्त्विक वृत्तिके या सभी राजस वृत्तिके या सभी तामस वृत्तिके हैं, अैसा समझकर केवल अुपदेश, केवल लाभ या केवल दंडके साधनों पर जोर देना अथवा सबके लिये बिलकुल सादे साधनों या सबके लिये अटपटे साधनोंकी योजना करना अथवा सभी मनुष्य मजबूत और नीरोग होते हैं अैसा समझकर या सभी रोगी और कमजोर होते हैं अैसा मानकर साधनोंकी योजना करना अथवा सिर्फ स्नायुओंके विकासको या सिर्फ कर्मेन्द्रियों या ज्ञानेन्द्रियोंकी वेगपूर्ण या सीधी कार्यशक्तिको अथवा सिर्फ तार्किक या शोधक शक्तिको या सिर्फ श्रद्धाकी ही भावनाको महत्त्व देना अथवा कोअी अेक ही

अैसा साधन योजना जो सारे अच्छे परिणाम ला सके और बुरे परिणामोंको टाल सके — ये सारी कोशिशें भुलावेमें डालनेवाली हैं।

वादका मतलब है अेक दो स्लोगन (नारे) — अतिव्यापक सूत्र — बनाना और फिर अुनमें खुद ही अुलझ जाना। चरखा सूत कातनेका साधन है और हमारे देशकी मौजूदा परिस्थितिमें अुसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह अेक आर्थिक विधान है, और अिसलिअे अुसके प्रचारके पीछे लगाअी जानेवाली ताकतकी अुपयोगिताको सब कोअी समझ सकते हैं। पर जब हम यह समझने लगते हैं कि वह सत्य और अहिंसाका प्रतीक है, अुसे चलानेवाला व्यक्ति स्त्री और धन-दौलतके सम्बन्धमें चरित्रवान ही होगा, वह किसी दिन झूठ नहीं बोलेगा, छुआछूतको नहीं मानेगा, किसीका खून नहीं करेगा, चोरी नहीं करेगा, किसीको धोखा या दुःख नहीं देगा, तब हम खुद ही अुसकी जालमें अुलझ जाते हैं। फिर हम कहने लगते हैं कि जिसका अहिंसामें विश्वास न हो, हिन्दू-मुस्लिम-अेकतामें विश्वास न हो, सत्य, ब्रह्मचर्य वगैरामें विश्वास न हो, जिसका चरित्र शुद्ध न हो, वह चरखा न चलाये। अिस तरह जब वस्त्र-निर्माणके साधनको चरित्र-निर्माणका भी सरल साधन बनानेकी कोशिशमें हमें सफलता नहीं मिलती, तब हम कहने लगते हैं कि वस्त्र-निर्माणके लिअे भी अुसका अुपयोग न किया जाय।

भक्तिमार्गी गुरुने कह दिया कि जप सारे साधनोंका राजा है। परन्तु रात-दिन 'राम' 'राम' करते रहने पर भी कअी लोग बुरे कामोंमें फंसे हुअे देखनेमें आते हैं। यह देखकर बादमें जपकी व्याख्या करनी पड़ती है। कौनसा जप सच्चा, कौनसा झूठा, किस तरह जप किया जा सकता है, जप करते समय कैसा भाव रखना चाहिये, कैसा अनुसंधान करना चाहिये — वगैरा सब कोअी समझ सकें और अुसका आचरण कर सकें, अिस दृष्टिसे पहले-पहल 'जप' की योजना की गअी और अुसका प्रचार हुआ। परन्तु शर्तोंसे अितना मुक्त जप निकम्मा साबित हुआ। अिसलिअे अुन पर अैसी शर्त रखी गअी कि अेकाध तीव्र साधक ही जपका अधिकारी हो सकता है, दूसरोंके लिअे वह बकवास

जैसा ही है। वास्तवमें जप अनेक साधना — चरित्रकी योग्यताओं — को सिद्ध करनेमें सहायक होनेवाला अेक यौगिक साधन है। चूना अीटोंको जोड़ता है, मगर अीटोंके बिना केवल चूना क्या कर सकता है? ज्यादासे ज्यादा वह सूखकर घटिया मिट्टीका ढेला ही बन सकता है। यही हाल जपका है।

अिसी तरह चरखा वस्त्र-निर्माण तथा वस्त्र-स्वावलम्बनका और अुतने अंशोंमें आर्थिक समृद्धिका अुपयोगी साधन है। जपकी तुलनामें चरखेमें अेक विशेषता है। जप दूसरी शर्तोंके बिना कोरी बकवास साबित हो सकता है, मगर चरखेका अैसा नहीं है, वह कमसे कम वस्त्र-निर्माणका काम तो कर ही देगा। अिसके बाद प्रजामें दूसरे गुण पैदा करनेके लिअे दूसरी प्रवृत्तियों और साधनोंकी जरूरत रहेगी। हमें यह नहीं मान लेना चाहिये कि चरखा हो तो ही अहिंसा सिद्ध होती है। यह कहा जा सकता है कि चरखेके बिना अहिंसक समाज-रचना होना अगर अशक्य नहीं तो कठिन जरूर है।

'अहिंसा' शब्दको भी हमने अपने ही हाथों अुलझनमें डालनेवाला शब्द बना दिया है। अुसमें से 'सिद्धान्त' और 'नीति', 'बहादुरकी अहिंसा' और 'कायरकी अहिंसा', 'अहिंसक प्राण-हरण' और 'हिंसक प्राण-हरण', 'अहिंसक प्राणरक्षा' और 'हिंसक प्राणरक्षा', 'सत्य-रहित अहिंसा' और 'सत्य-सहित अहिंसा', अिसी तरह 'ब्रह्मचर्य आदि सहित अहिंसा' और 'ब्रह्मचर्य आदिसे रहित अहिंसा', 'अहिंसा और देशरक्षा या आत्मरक्षा' तथा 'अहिंसा और युद्ध' आदि चर्चाअें खड़ी हुअी हैं। अगर हम अेक ही शब्दमें सभी सुन्दर गुणों, वृत्तियों और कृतियोंका समावेश करनेका आग्रह न रखें और यह मान लेनेकी भूल न करें कि किसी अेक वस्तुको सिद्ध करनेसे दूसरी सब अपने-आप सिद्ध हो जाती हैं, बल्कि हरअेक शब्द या भावको अुसकी मर्यादामें रखकर ही समझें, तो अिनमें से बहुत-सी चर्चाअें और मतभेद खतम हो जायं।

अर्थके अुत्पादन और वृद्धिके लिअे मनुष्यमें अमुक प्रकारका चरित्र — गुण और आदतें — होना चाहिये, और अुसके सुस-संयम और न्यायपूर्वक अुपयोग और अुपभोगके लिअे अमुक प्रकारका चरित्र होना

चाहिये। मनुष्यकी सारी प्रवृत्तियोंका अुद्देश्य भी अपनेमें अच्छे मनुष्यके गुणों और आदतोंकी वृद्धि करना होना चाहिये। मगर कोअी अेक शब्द या कोअी अेक साधन सारे अच्छे गुणों और आदतोंको प्रगट करने और सिद्ध करनेवाला नहीं हो सकता। अेकांगी दृष्टिसे देखने पर परस्पर-विरोधी लगनेवाले साधन, गुण तथा आदतें भी जरूरी हो सकती हैं, और अत्यन्त श्रेष्ठ लगनेवाले गुण भी विवेक और दूसरे गुणोंके अभावमें मनुष्यके शुभ विकासमें बाधक हो जाते हैं। यह भी हो सकता है कि अेक समय अेक गुण पर जोर देनेकी जरूरत पड़े और दूसरे समय दूसरे गुण पर। अतः हमेशाके लिअे कोअी अेक रास्ता नहीं बनाया जा सकता। हर जमानेमें और हर समाजमें नेताओंको सावधानी और विवेकसे अपने समयके लिअे ही मर्यादायें खोजनी चाहिये और अुन्हें अितना दृढ़ नहीं बना देना चाहिये कि भविष्यकी प्रजा अुन्हें बदलनेमें कठिनाअी अनुभव करे।

चरित्र समृद्धिका साधन है और समृद्धिका साध्य अुन्नत चरित्र है, अिस सत्यको पूरी तरह स्वीकार न करनेसे आजका विज्ञान-सम्पन्न मानव-समाज अिस तरह दुनियामें घूम रहा है, मानो हाथमें आग लगानेके साधन रखनेवाले और अुसकी कला सीखे हुअे वानर-समाजको खुला छोड़ दिया गया हो। अिसलिअे अर्थवृद्धिके साधनों पर विचार करते समय आदि, मध्य तथा अन्त — तीनों अवस्थाओंमें चरित्रके अंगोंका विचार करके ही कदम अुठाने चाहिये।

१७-१०-'४७

५

चरित्रके स्थिर और अस्थिर अंग

मनुष्यकी अपनी ओर देखनेकी दृष्टि साफ होनी चाहिये। वह दूसरे प्राणियोकी तरह अकाध निश्चित और अपेक्षाकृत सरल दिशामे ही विकसित प्रज्ञा यानी बुद्धिवाला प्राणी नही है। अिसी तरह वह अनन्त प्रज्ञावाला होते हुअे भी पूर्णप्रज्ञ नही है। अुसे दूसरे प्राणियोकी तरह अेकप्रज्ञ नही बनाया जा सकता। वह अनन्त-प्रज्ञ होनेकी कोशिश करता ही रहेगा। यानी सभी मनुष्योकी अेक ही प्रज्ञा नही हो सकती। वे विविध प्रज्ञावाले ही रहेगे। अितना ही नही, किसी भी व्यक्तिका सर्वथा अेकप्रज्ञ होना सभव नही है। अेकाध दिशामे किसी व्यक्तिकी प्रज्ञा अपनी आखिरी सीमा तक भले पहुच जाय, मगर यह सभव नही कि दूसरी दिशाओमे अुसका बिलकुल ही विकास न हो। और अेक दिशामें विकसित प्रज्ञामे कोअी मनुष्य अिच्छित पूर्णता नही पा सकता, न कृतार्थताका अनुभव कर सकता है। साथ ही किसी व्यक्तिका पूर्ण और अनत-प्रज्ञ होना सम्भव नही है। हो सकता है कि कुछ व्यक्ति अैसा बननेकी असफल महत्त्वाकाक्षा रखे, परन्तु समस्त मानव-जातिका पूर्ण और अनत-प्रज्ञ होना सम्भव नही है। यानी अगर प्रज्ञाको मनुष्यकी अिन्द्रिय माना जाय, तो वह अिन्द्रिय अेक अैसी जातिके अनत सूक्ष्म स्नायुओ और ज्ञानतंतुओकी पखुडियोसे बनी हुअी है, जिसकी अलग अलग पखुडिया थोडी खिली हुअी है, थोडी मुरझाअी हुअी है, सब अभी खिली नही है और सभीका किसी अेक समयमे खिली स्थितिमे दिखाअी पडना सम्भव नही है।

अेक दूसरा दृष्टान्त लेकर अिस पर विचार करे, तो मनुष्य-समाज किसी अनजान जगलमे छोडे हुअे अधे और बहरे मनुष्यो जैसा है। वह हाथसे छूकर रास्ता ढूढनेका, दोस्तो और दुश्मनोको पहचाननेका और अच्छे-बुरे साधन और स्थान निश्चित करनेका प्रयत्न करता है।

सबके अनुभव अलग-अलग हैं। कुछने अपना जीवन अमुक भावनों और स्थानोंमें व्यवस्थित कर लिया है, कुछका जीवन अुतनेमें व्यवस्थित नहीं हो पाता या अुन्हें अभी अैसा करनेकी अनुकूलताअें नहीं मिलीं। कुछका जीवन दूसरों पर विश्वास और प्रेम रखनेसे सुखपूर्वक बीता है, तो कुछका अिन्हीं कारणोंसे दुःखमय बीता है। कुछने दूसरोंके प्रति अविश्वास रखनेमें ही अपनी सफलता देखी है, तो कुछने अिसी वजहसे ठोकर खाअी है। कुछके लिअे हाथ-पांवोंकी शक्ति ही मददगार साबित हुअी है, तो कुछको अपने तर्क, बुद्धि या वाणीकी शक्तिसे मदद मिली है। कुछने डर डरकर चलनेमें अपनेको सुरक्षित माना है, तो कुछने साहसकी बदौलत ही अपनेको आगे बढा हुआ पाया है। हरअेकने अपने-अपने अल्प अनुभवसे व्यापक सिद्धान्त बनाये हैं।

फिर भी अिसमें अेक तरहकी व्यवस्था है। हरअेकका अनुभव थोडा होते हुअे भी अुसे अपने अनुभवका समर्थन करनेवाले लोग मिल जाते हैं। अिससे साबित होता है कि अिन अनुभवोंको कुछ वर्गोंमें बांटा जा सकता है और हर वर्गके अनुभवोंमें कुछ विचारने और ग्रहण करने लायक अंश होता है। लेकिन कोअी भी अेक अनुभव न तो सर्वश्रेष्ठ होता है, न सर्वथा छोडने लायक ही होता है। दूसरे, यह भी कहा जा सकता है कि अलग-अलग कोटिके या परिस्थितिके लोगोंके लिअे किसी अेक वर्गका अनुभव दूसरोंके मुकाबले अधिक अुचित साबित हो सकता है तथा अमुक परिस्थितिमें किसी अेककी महत्ता ज्यादा और दूसरेकी कम हो सकती है।

अिस तरह देखने पर यह कहा जा सकता है कि नीचे लिखी हुअी योग्यताअें मामूली तौर पर हरअेक पूर्णांग मनुष्यमें हमेशा होनी चाहिये, और अिनमें से दो चार योग्यताअें हरअेकमें विशेष रूपसे होनी चाहिये, तथा विशेष परिस्थितिमें कुछ योग्यताअें बहुतम्यक मनुष्योंमें होनी चाहिये।

शारीरिक

१ नीरोग और पूरी तरहसे विकसित शरीर।

२ मेहनत करनेकी शक्ति और आदत।

३ सर्दी-गर्मी, भूख-प्यास आदि सहनेकी शक्ति और आदत।

४ ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंके कामोंको स्वतन्त्रतासे और व्यवस्थित रीतिसे करनेकी कुशलता और आदत।

५ स्फूर्ति और तेजीके बावजूद व्यवस्थितता और नियमन।

मानसिक

१ साहस — खतरेका सामना करनेका हौसला और हिम्मत।

२ धीरज — खतरेमें घबरा न जानेकी (panicky न होनेकी) शक्ति।

३ समय-सूचकता — परिस्थितिका मुकाबला करनेकी सूझ।

४ श्रमानन्द — मेहनतके वक्त अरुचि पैदा होनेके बजाय अुमंग बढ़ना।

५ गोह-वृत्ति — पकड़ी हुआी चीजको आसानीसे न छोड़कर मजबूतीसे पकड़े रहनेका स्वभाव।

६ तेज अथवा स्वाभिमान — दूसरेकी धमकी, लाल आँखें वगैरासे दब न जानेकी शक्ति।

७ आत्म नियमन — काम, क्रोधके वेगाको रोकनेकी शक्ति।

८ हमेशा प्रगति करते रहनेकी अभिलाषा।

९ सावधानी।

बौद्धिक

१ जिज्ञासा और शोधकी वृत्ति।

२ अवलोकन, निरीक्षण और प्रयोग करनेकी आदत।

३ अनुभव और कल्पना, वस्तुधर्म और आरोपित धर्म, आदर्श और महत्त्वाकांक्षा तथा गगन-विहार, वास्तविकता और अभिलाषाके बीच भेद करनेकी शक्ति।

४ गणित और आकलन।

५ स्मृति और जागृति।

६ चींटीकी वृत्ति — जहांसे मिले वहांसे चींटीकी तरह छोटे और नम्र बनकर ज्ञान-संग्रह करनेकी वृत्ति।

१३ रोग, गरीबी, अन्याय, स्थूल तथा सूक्ष्म मलिनता और हिंसाको दूर करनेके लिअे अुद्यम करना।

१४ समाजके हितके लिअे अपनी व्यक्तिगत महत्त्वाकांक्षाओं, ममताओं वगैराको गौण समझना और अनेकोंके साथ सहयोग करनेकी तत्परता। फिर भी,

१५ अन्याय और असत्यके खिलाफ और न्याय तथा सत्यके लिअे पूरी दुनियाका अकेले सामना करनेकी हिम्मत।

ध्येयात्मक या श्रद्धात्मक

१ असत्यमें से सत्यकी ओर, हिंसामें से अहिंसाकी ओर, दैन्यमें से अैश्वर्यकी ओर, आसक्तिमें से वैराग्यकी ओर, अज्ञानमें से ज्ञानकी ओर, अव्यवस्थामें से व्यवस्थाकी ओर, विषमता और अन्यायमें से समता और न्यायकी ओर तथा अधर्ममें से धर्मकी ओर लगातार बढ़ना और अपनी तथा समाजकी पूर्ण मानवताका विकास करना।

२ पूरी मानव-जातिकी अेकताको स्वीकार करना और अुसे सिद्ध करनेकी कोशिश करना।

३ जीवनके मूल सत्यको खोजने और समझनेका पुरुषार्थ।

अिस सूचीको सम्पूर्ण नहीं मानना चाहिये। अिसमें सत्य, अहिंसा, क्षमा, दया, सन्तोष, भावना, श्रद्धा, अुपासना, आत्मरक्षा, फौजी तालीम, सन्ध्या, कला वगैरा-वगैरा रूढ़ शब्द नहीं दिये गये हैं, बल्कि वर्णनात्मक शब्दोंका अुपयोग किया गया है, जिससे योग्यताओंका निश्चित स्वरूप समझमें आ सके और अुनकी जरूरतोंके बारेमें विचार किया जा सके। अिन बातोंका आर्थिक क्रान्तिके सवालमें अिसलिअे समावेश किया गया है कि अिस बुनियादके बिना कोअी आर्थिक योजना सिद्ध हो नहीं हो सकेगी। आर्थिक योजनाओं और अलग-अलग वादोंकी रचना करते समय यह मान कर चला जाता है कि चरित्रके ये सब अंग तो मनुष्यमें हैं ही। मगर थोड़ा विचार करने पर मालूम होगा कि हमारी प्रजामें या जगतमें यह सब है ही, अैसा मान लेनेका कोअी आधार नहीं है। अिस पर अितनी ही टीका काफी नहीं होगी कि 'नाऽस्ति मूलं कुतः शाखा'

(मूल नहीं तो शाखा कहांसे ?), बल्कि यह भी कहना होगा कि 'सन्मूलस्याभावात् प्रसूता विषवल्लय' (अच्छे मूलके अभावमें विषकी लतायें ही फैली हैं)।

२०-१०-'४७

६

वादोंका बखेड़ा

आज हम सब अलग-अलग वादोंके बखेड़ेमें फसे हुअे हैं। पूजीवाद, गांधीवाद, समाजवाद, साम्यवाद, यंत्रीकरण, राष्ट्रीयकरण, केन्द्रीकरण, विकेन्द्रीकरण, बड़े अुद्योग, ग्रामोद्योग, यंत्रोद्योग, हाथ-अुद्योग, बलवान केन्द्र, ग्राम-स्वराज्य, मजदूर-राज्य, किसान-राज्य, डेमॉक्रेसी, ऑटोक्रेसी वगैरामें से अेकाध शब्दको हम पकड़ लेते हैं और अपनी सारी चर्चायें यह मानकर करते हैं कि अैसे किसी अेक वादके मुताबिक सारा कारबार जमा देनेसे जीवनकी सच्ची और सुंदर व्यवस्था हो जायगी। मगर मानव-जीवन अैसा फिसलनेवाला है कि किसी अेक व्यवस्थाकी पकड़में वह आ ही नहीं सकता, या जबरदस्तीसे अुसे पकड़ा भी जाय तो वह सड़ने लगता है और मनुष्यको सुखी और तन्दुरुस्त बनानेके बदले अुसे आपत्तिमें डाल देता है।

मगर अिसके अलावा हमें अेक महत्त्वकी बात पर विचार करना है। ये सभी वाद अेक-दूसरेसे बिलकुल भिन्न प्रकारके दीखते हुअे भी अेक ही बुनियादको मजबूत बनाकर या समझकर खड़े हुअे हैं। सबकी रचना धन-गणित — सोनेके तौल-गणित — के आधार पर हुअी है। आज भले ही सोनेके सिक्कोंका चलन कहीं न हो, मगर अर्थ-विनिमयका साधन — वाहन और माप — अुसके पीछे रहनेवाले सोने-चांदीके संग्रह पर ही है। साम्यवादी भले ही मजदूरको महत्त्व दे, पूंजीपतिको निकालनेकी कोशिश करे, मगर वह भी पूंजीको — यानी सोने-चांदीके आधारको और गणितको ही — महत्त्व देता है। आर्थिक समृद्धिका माप

सोनेकी बनी हुआी फुटपट्टीसे ही निकाला जाता है। अिस फुटपट्टीके पीछे रहनेवाली सामान्य समझ यह है कि जो चीज हर किसीको आसानीसे न मिल सके वही अुत्तम धन है।

पूंजीवादका मतलब है अैसी चीज पर व्यक्तिगत अधिकार रखनेमें श्रद्धा, तथा साम्यवाद या समाजवादका अर्थ है अैसी चीज पर सरकारका अधिकार रखनेमें श्रद्धा। जो चीज हर किसीको आसानीसे मिल सकती हो, वह जीवन-निर्वाहके लिअे चाहे जितनी महत्त्वपूर्ण हो तो भी हलके दरजेका धन समझी जाती है। अिस तरह हवाकी अपेक्षा पानी, पानीकी अपेक्षा खाद्य-पदार्थ तथा खाद्य-पदार्थोंकी अपेक्षा कपास, तम्बाकू, चाय, तांबा, सोना, पेट्रोल, युरेनियम वगैरा अुत्तरोत्तर ज्यादा अूंचे प्रकारके धन माने जाते हैं। अिस तरह जो चीज जीवनके लिअे कीमती और अनिवार्य हो अुसकी अर्थशास्त्रमें कम कीमत है, और जिसके बिना जीवन निभ सके अुसकी अर्थशास्त्रमें ज्यादा कीमत है। अिस प्रकार जीवन और अर्थशास्त्रका विरोध है।

अगर कोअी क्रांति होना जरूरी हो, तो जिस तरह धार्मिक, सामाजिक वगैरा मान्यताओंके सम्बन्धमें पहले कहा जा चुका है, अुसी तरह अिस विषयमें भी विचारोंकी क्रांति होना जरूरी है। अर्थमापका कोअी अैसा साधन खोजना चाहिये, जो जीवनके लिअे अुपयोगी और सबको आसानीसे मिल सकनेवाली चीजों और शक्तियोंको कीमती ठहरावे तथा अुनके अभावको मनुष्यकी दरिद्रता समझे।

अर्थशास्त्रकी दूसरी विलक्षणता यह है कि मजदूरीका समयके साथ सम्बन्ध जोड़नेमें वह साधन अथवा यंत्रका कोअी विचार नहीं करता। अुदाहरणके लिअे, अेकसी वस्तु बनानेमें अेक साधनसे पांच घंटे लगते हैं और दूसरेसे दो घंटे, तो दूसरा साधन काममें लेनेवालेको ज्यादा कीमत मिलती है, फिर भले ही पहलेने खुद मेहनत करके वह चीज बनाअी हो और दूसरेको अुसे बनानेमें यंत्रको दबानेके सिवा और कुछ न करना पड़ा हो। अिसीको दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि अर्थशास्त्रमें समयकी कीमत नहीं है, मगर समयकी बचत करने पर अिनाम मिलता है और समय बिगाड़ने पर जुरमाना होता है।

मगर जिसमें समय किस तरह बचा या बिगडा, जिस बातकी परवाह नहीं की जाती।

सच पूछा जाय तो जिस तरह साधन अच्छा होने पर समयकी बचत होती है, असी तरह कुशलता, अुद्यमशीलता आदिके कारण मजदूरोंकी गुणमत्ता ज्यादा हो तो भी समयकी बचत होती है। और अगर साधन तथा गुणमत्ता अच्छे हों, तो वस्तुकी कीमत अुसे बनानेमें लगे हुअे समयके अनुसार आंकी जानी चाहिये। अेक ही समान धन पर कोअी व्यक्ति अेकसी गुणमत्ताका अुपयोग करके यदि कोअी चीज बनावे और अुसे दो घंटेका समय लगे तो दो घंटेके बजाय ढाअी घंटे लगाकर बनाअी हुअी वस्तु पहलीसे ज्यादा कीमती बननी चाहिये। साधन तथा गुणमत्ताकी विशेषता अुस वस्तुमें अुतरनी चाहिये। जिस तरह, किसी चीजके बनानेमें जितना अधिक समय, जितने अधिक अच्छे साधन और जितनी अधिक गुणमत्ताका अुपयोग किया गया हो अुतनी ही अधिक अुसकी कीमत होनी चाहिये। दरअसल लागत कीमत तो जिसी तरह आंकी जाती है। मगर आजकी अर्थ-व्यवस्थामें माल तैयार करनेवालेको जिस हिसाबसे कीमत नहीं मिलती। जिसलिअे आज समय और गुणमत्ताको बचानेवाले साधनों पर ही सारा जोर दिया जाता है। या अैसा कहिये कि समयके अुपयोग पर भारी नुकसान होता है और गुणकी कीमत कमतीसे आंकी जाती है।

गणितकी भाषामें पेश की गअी जिन सारी बातोंको पूरी तरह गणितके ही रूपमें नहीं लेना चाहिये। जिसका हेतु सिर्फ जितना ही दिखाना है कि सोना, चादी वगैरा विरल पदार्थोंके आधार पर रची हुअी कीमत आंकनेकी पद्धतिसे वस्तुओंकी सच्ची कीमत नहीं आंकी जा सकती। और जिसलिअे अुसके आधार पर बनी हुअी अर्थ-व्यवस्था चाहे जिस वादके आधार पर खडी की गअी हो, वह अनर्थ पैदा करनेवाली ही साबित होती है और होती रहेगी।

कुदरत सबकी है। जिसलिअे अुसकी कीमत ही नहीं होनी चाहिये। जमीन या पानी हवाकी तरह ही कुदरतकी बख्शिशें हैं। जिनकी विपुलता या कमीसे कीमतमें फर्क पडनेका कोअी कारण नहीं है।

अिसके सिवा, आजकी हमारी धन और कीमत मापनेकी पद्धति देखनेमें भले सव्य — लाभमापक (positive) हो, परन्तु वास्तवमें वह अपसव्य — हानिमापक (negative) है। आजकल अगर किसी मुहल्लेमें दंगा होता है तो वहां रहनेवाले लोगों पर सामूहिक जुरमाना किया जाता है। अगर दो मुहल्लोंमें दंगे हुअे हों और अेक पर पच्चीस हजारका तथा दूसरे पर दस हजारका जुरमाना किया जाय, तो सरकारी बहीमें पहले मुहल्लेके लोगोंके खाते पच्चीस हजार रुपये जमा किये जायंगे और दूसरे मुहल्लेवालोंके खाते दस हजार। अिसके आधार पर सरकार पहले मुहल्लेको ज्यादा लाभदायक मानेगी और दूसरेको कम लाभदायक। अिसलिअे अगर वह पहले मुहल्लेके बारेमें ज्यादा सन्तोष माने, तो अेक तरहसे यह सीधी बात जान पड़ती है। मगर दूसरी ओर सच्ची दृष्टिसे देखें तो यह पन्द्रह हजारका अधिक लाभ संतोषकी नहीं बल्कि खेदकी बात है। क्योंकि सरकारका हेतु दंगोंको रोकना है, दंगोंके जुरमाने वसूल करनेका धन्धा चलाना नहीं। अिस हेतुकी सिद्धिके लिअे अैसी स्थिति पैदा करना जरूरी है, जिसमें किसी पर जुरमाना न करना पड़े, दंगे हों ही नहीं।*

अथवा नीतिमें थोड़ा परिवर्तन करके सरकार अैसा नियम बनावे कि जो मुहल्ले सालभर शान्ति बनाये रखें, अुन्हें अमुक हिसाबसे करमें छूट दी जाय और जहां दंगे हों वहांसे पूरा कर वसूल किया जाय। अिस तरह सम्भव है कुछ मुहल्लोंके लोग अच्छे अिनाम ले लें और अिस कारणसे सरकारका कर कम वसूल हो। अूपरसे देखनेमें यह नुकसानकी बात मानी जायगी। लेकिन दूसरी ओर चूंकि सरकारका मकसद दंगे रोकनेका है, अिसलिअे करमें अमुक हिसाबसे छूट देनेसे लाभ ही होगा। शान्तिकी दृष्टिसे सजाकी जमा रकम अपसव्य — हानिमापक है और करमें छूट सव्य — लाभमापक है।

---

* जुरमानेके सम्बन्धमें यह कथन शायद आसानीसे मंजूर कर लिया जायगा, और यह कहा जायगा कि अैसा कोअी नहीं समझता। मगर शराब, जुअे वगैरासे होनेवाली आमदनीके सम्बन्धमें अैसी भावना है या नहीं, अिस पर विचार करना चाहिये।

जिस तरह हम कीमतके सवाल पर विचार करें। मान लीजिये हम यह कहें कि मिलका कपड़ा हमें अेक रुपये गजमें पुसाता है और वैसी ही खादी दो रुपये गजमें। और जिस हिसाबसे मिलके अेक गज कपड़ेकी कीमत हम अेक रुपया लिखते हैं और खादीकी दो रुपये। अब अेक गज कपड़ा तो अेक गज कपड़ा ही है, फिर वह मिलमें बना हो, चाहे खादीका हो। जीवनकी जरूरत तो दोनोंसे अेकसी ही पूरी होती है, जिसलिअे जीवनके लिअे दोनोंकी कीमत अेकसी है। मान लीजिये कि अेक आदमीको अुसकी घड़ी छह महीनों तक लगातार काम देती है। जिसलिअे अुसकी सच्ची कीमत छह माह है। फिर भी अुसकी अलग-अलग कीमतें लिखनेका मतलब यह हुआ कि यन्त्रमें छह महीनेका किराया अेक रुपया होता है और हाथ-औजारमें दो रुपये। अगर छह महीनेका किराया अेक रुपया अुचित हो, तो खादीके दो रुपये लेकर आप खादी पहननेवाले पर जुरमाना करते हैं, या दो रुपये देकर खादी बनानेवालेको अिनाम देते हैं। और अगर छह महीनेकी कीमत दो रुपये अुचित हो, तो मिलके अेक गज कपड़ेके लिअे अेक रुपया देकर आप मिलवाले पर जुरमाना करते हैं, या मिलका कपड़ा अेक रुपये गजमें बेचकर अुसका अुपयोग करनेवालेको आप अिनाम देते हैं। जिस तरह लागत कीमतके हिसाब परसे वस्तुकी कीमत आकने जाय, तो अुसकी सच्ची कीमत जाननेका कोअी निश्चित साधन ही नहीं मिलता।

अिसके सिवा, अेक दूसरी दृष्टिसे वर्तमान अर्थ-व्यवस्थाकी अनर्थता पर विचार करें। नैतिक न्यायकी दृष्टिसे देखें तो जिन चीजोंके बिना जीवन चल ही नहीं सकता हो और अिसलिअे जिनके अुत्पादनमें ही ज्यादासे ज्यादा मनुष्योंका लगना जरूरी हो, अुनमें लगे हुअे लोगोंकी मेहनतकी सबसे ज्यादा कीमत होनी चाहिये। मनुष्यकी मेहनतमें से क्या वस्तु निर्माण होती है और वह जीवनके लिअे कितनी जरूरी है, अिसका खयाल रखकर ही अुसका मेहनताना निश्चित किया जाना चाहिये। अिस तरह देखा जाय तो अिसमें जरा भी शक नहीं कि ज्यादासे ज्यादा मनुष्योंको अनाज पैदा करनेके काममें ही लगना चाहिये। बाकीके सारे कामोंका स्थान अिससे गौण माना जाय। जिसलिअे

ज्यादासे ज्यादा मेहनताना अनाज पैदा करनेकी सीधी मजदूरी करने-वालेको मिलना चाहिये। शेष सारे धंधे अिसके बादकी पंक्तिके माने जाने चाहिये। अनाज पैदा करनेवालोंके बाद दूसरा नम्बर शायद घर और कपड़े बनानेवालोंका तथा भंगी वगैरा सफाईका काम करनेवालोंका माना जा सकता है। जिस धंधेके ज्ञान या मददके बिना दूसरे धंधे करनेवा-लोंकी सारी विद्या और कला बेकार हो जाती हो, वह धंधा आर्थिक दृष्टिसे सबसे कीमती माना जाना चाहिये।

परन्तु हम जानते हैं कि आजकी अर्थ-व्यवस्थामें अैसा नहीं होता। आज सबसे ज्यादा मेहनताना राजा, मंत्री, सेनापति, फौज, पुलिस, न्याया-धीश, वकील, वैद्य, बड़े अध्यापक, विशेषज्ञ, फैशन-सर्जक* वगैराको दिया जाता है, और जीवनमें जिसकी कमसे कम जरूरत पड़ती है अुसे ज्यादासे ज्यादा मेहनताना मिलता है।

अैसा होनेका अेक कारण यह है कि अज्ञान लोगोंमें जिस तरह भूत-प्रेत अथवा देवी-देवताओंके विषयमें वहम फैले हुअे हैं और पढ़े-लिखे लोग अुनकी हंसी अुड़ाते हैं, अुसी तरह हमारे सभ्य-समाजियों (सुधरे लोगों) में राज्य-व्यवस्था और सुलह-शान्ति बनाये रखनेवालों तथा ज्ञान देनेवालों वगैराके सम्बन्धमें वहम होते हैं। जिस श्रद्धासे अज्ञानी लोग भूत-प्रेत या देवी-देवताओंको रिझानेके लिये मुर्गे बकरे या पाड़ेकी बलि चढ़ाते हैं, अुसी श्रद्धासे हम राजा-महाराजा और राजपुरुषोंको रिझानेके लिये अुन्हें खूब मेहनताना देते हैं, अुनके दरबार भरते हैं और जुलूस निकालते हैं। जिस तरह मनुष्य अपने ही हाथों गढ़ी हुअी या चित्रित देवमूर्तिको पूजकर या प्रणाम करके कहता है कि 'हे भगवान, तू हमारा कर्ता और भर्ता है,' अुसी तरह वह अपनी मददसे बड़े किये हुअे राजपुरुषोंको पूजकर या प्रणाम करके कहता है कि 'आप हमारे राष्ट्रके स्वामी और पालक हैं'। पर अनुभव तो यह बतलाता है कि राजपुरुषोंके द्वारा जितनी खून-खराबी, अव्यवस्था, अन्याय, लूट-मार,

* फैशन-सर्जक शब्दको 'कला-सर्जक'से अलग करनेके लिये यहां मैंने अिसका जान-बूझकर अुपयोग किया है। सच्चे कला-सर्जकका मेहनताना तो अक्सर कम होता है, अुनकी प्रतिष्ठा भले ही अधिक हो।

झूठ वगैरा चलती है, अुतनी किसी प्रकारकी व्यवस्थित राजसत्ताकी अनुपस्थितिमें शायद न चले।

मगर अब मानव-समाज अैसी स्थितिमें है कि व्यवस्थित राज्य-सत्ताको बनाये रखनेके सिवा अुसके सामने दूसरा कोअी रास्ता नही है। अिसलिअे राज्यसत्ता भले रहे, मगर अिसका यह मतलब नही कि अुस काममें लगे हुअे लोगोंकी आर्थिक कीमत भी ज्यादा आकी जाय। अैसा भी अेक जमाना था जब अैसा नही होता था। आज अिनकी आर्थिक कीमत ज्यादा आकनेका अेक कारण यह है कि धन और प्रतिष्ठाका हमने अैसा समीकरण किया है कि जितना धन अुतनी ही प्रतिष्ठा, अथवा हम अैसा मानने लगे है कि जिसकी प्रतिष्ठा वढानी हो अुसका मेहनताना भी बढाना चाहिये। हमने 'सर्वे गुणा काञ्चनमाश्रयन्ते' अिस नीतिवाक्यको अपने जीवनमें स्वीकार कर लिया है।

प्रतिष्ठा अनेक कारणोंसे हो सकती है और दी जा सकती है। अुसे मान्य करनेके दूसरे चाहे जितने तरीके हो, मगर पैसोंके अिनामके द्वारा वह नही की जानी चाहिये। बूढे व्यक्तिको अुसकी अुम्रके लिअे, स्त्रीको अुसके मातृत्व, कोमलता और शीलके लिअे, बालकको अुसकी निर्दोषता और मधुरताके लिअे, ज्ञानीको अुसके ज्ञानके लिअे, सिपाहीको अुसकी बहादुरीके लिअे, राजपुरुषको अुसके नेतृत्व और कार्यशक्तिके लिअे, सन्तको अुसके चरित्रके लिअे और अधिकारीको व्यवस्था बनाये रखनेमें सहायक होनेके लिअे अगर प्रतिष्ठा मिले, तो अिसमें कोअी दोष नही है। मगर अिस प्रतिष्ठाकी कदर पैसे देकर नही की जानी चाहिये। आप अुन्हे आदर दीजिये, सबसे आगे स्थान दीजिये, अूचा स्थान दीजिये, ठीक लगे अुस तरह अुन्हे नमस्कार या प्रणाम कीजिये, फूलमाला और सिरपेंच दीजिये, जरूरी हो तो पदवियां भी दीजिये, मगर अुसके लिअे अुन्हे ज्यादा मेहनताना देनेकी या सोने-चादीकी कीमती चीजें या धन अिकट्ठा करनेकी सहूलियतें देनेकी जरूरत नही है। अगर अलग-अलग कामोंके लिअे अलग-अलग मेहनताना हो, तो सबसे ज्यादा मेहनताना अनाजकी खेती करनेवाले या जलकी खेती करनेवालेको मिलना

चाहिये। राजाका भी अेक दिनका मेहनताना खेतीके मजदूरकी अपेक्षा कम होना चाहिये, भले अुसके कामके लिअे अुसे देशकी स्थितिके अनुसार मर्यादित सुविधाअें दी जाय।

७

फुरसतवाद

पिछले प्रकरणमें 'समयकी बचत पर अिनाम' या 'समय बिगाडने पर जुरमाना' जैसे शब्दों द्वारा चीजोंकी कीमत आकनेकी मौजूदा पद्धतिका स्पष्टीकरण किया गया है। मगर सच पूछा जाय तो अिस तरह स्पष्टता करनेमें विचारको गलत रास्ते चढाया जाता है। गांधीवाद और अन्य वादोंके बीच अेक भेद है। वह यह कि दूसरे सब वाद फुरसतवादी हैं, अुनके अनुसार अिन्सानको ज्यादासे ज्यादा फुरसत दी जानी चाहिये। कहा जा सकता है कि वर्तमान अर्थशास्त्रकी बुनियादी श्रद्धा यह है कि विद्या, कला वगैराका — 'संस्कृति' का — कारणशरीर (मूल साधन) फुरसत है। गांधीवाद प्रतिक्रियाके रूपमें शायद अिसके दूसरे छोर पर चला गया है और वह फुरसतको मानव-हितकी लगभग दुश्मन ही समझता है।

हकीकत यह है कि फुरसत शब्दमें आलस्य और विश्राम दोनोंका समावेश होता है। मेहनतके बाद विश्राम करनेकी जरूरतके सम्बन्धमें विवाद करना बेकार है। यह विश्राम दो तरहका हो सकता है अेक आरामसे पडे रहकर या सोकर हो सकता है, और दूसरा धन न पैदा करनेवाले शौक या आनन्दका श्रम करके किया जा सकता है। अिसमें खेल-कूद, कला-चातुरी, कथा-कीर्तन, ज्ञान-चर्चा वगैराका समावेश हो सकता है। यह श्रम धन पैदा करनेवाला भले न हो, फिर भी शरीर, मन, बुद्धि वगैराको स्वस्थ और अुन्नत करनेवाला होना चाहिये। यह कहना कोरी पंडिताअी दिखाना है कि मनुष्यको विश्रामकी कोअी जरूरत ही नहीं है, या अेक प्रकारकी मेहनत करनेके बाद

दूसरे प्रकारकी जो मेहनत की जाय, वह भी धन पैदा करनेवाली ही हो और अिनोंमें विश्राम समाया हुआ है। यह स्वीकार करनेमें किसीको हर्ज नहीं होना चाहिये कि आलस्य मानव-हितका दुश्मन है। 'निकम्मा बैठा सर्वनाश न्योते' यह अनुभव-वचन है। जिस फुरसतका परिणाम जुआ, शराब, व्यभिचार, नाच-तमाशा, मलिन कला, गाली-गलौज तथा मारपीट हो, वह असी सर्वनाश न्योतनेवाली फुरसत कही जायगी।

मगर आलसकी बुराई स्वीकार करनेमें कहीं श्रमका बोझ न बढ़ जाय, अिस डरसे फुरसतवाद पैदा हुआ है। जीनेके लिअे किये जानेवाले आवश्यक श्रमसे ज्यादासे ज्यादा मुक्ति पहले मिलने दीजिये, आवश्यक श्रम ही श्रान्ति (थकावट) है, और जिसमें से निकलना विश्रान्ति — फुरसत है। थकावट महसूस होने लगे अुससे पहले ही फुरसत या विश्रान्ति मिले तो ज्यादा अच्छा। असा हो तो ही दूसरे प्रकारके ज्ञान, कला वगैराका अुपार्जन और सर्जन हो सकता है। थकनेसे पहले ही मिलनेवाली फुरसत बिताते न आये तो हर्ज नहीं, 'निकम्मा बैठा सर्वनाश न्योते' का खतरा अुठाकर भी मनुष्योंको पहले फुरसत दी जानी चाहिये। बादमें धीरे-धीरे फुरसतके समयको अच्छी तरह बितानेकी तालीम अुन्हें दी जा सकेगी। यह फुरसतवाद है।

सकता है। यही बात श्रम और फुरसतके सम्बन्धमें कही जा सकती है। मनुष्य फुरसत तो निकालेगा ही। श्रम करते करते भी अुसको जरूर फुरसत पड़ेगी। मगर फुरसतको ही वह अर्थशास्त्रकी या जीवनकी फिलसूफी और ज्ञान तथा कलाको जन्म देनेवाला साधन समझ ले, तो अुनके परिणाम-स्वरूप अनर्थोंकी परम्परा ही पैदा होगी।

अेक अैसी मान्यता है कि संस्कृतिका विकास फुरसतसे हुआ है और होता है। फुरसत हो तो मनुष्य गाना सीख सकता है, नाचना सीख सकता है, चित्रकला तथा मूर्तिकला सीख सकता है, शरीर, घर वगैराको सजाना सीख सकता है, पढ़ना और मनन करना सीख सकता है तथा विज्ञान और तत्त्वज्ञान पर विचार कर सकता है। मगर जिसका सारा दिन और सारा जीवन पेटका गढ़ा भरनेकी मेहनतमें और जीवनको जैसे-तैसे टिकाये रखनेमें ही चला जाय, वह विद्या-कला-ज्ञान वगैराका विकास कैसे कर सकता है? आज तक दुनियामें जो जो महान संस्कृतियां पैदा हुआी हैं, भव्य नगर, अिमारतें, साहित्य, संगीत, कला, तत्त्वज्ञान आदि रचे गये हैं, अुन सबका श्रेय फुरसत निकाल सकनेवाले लोगोंको ही है। पूंजीवादी अर्थ-व्यवस्थामें थोड़े मनुष्य किसी तरह खूब धन अिकट्ठा कर सकते थे और अिससे सिर्फ अुन्हें ही खूब फुरसत नहीं मिलती थी, बल्कि दूसरे योग्य व्यक्तियोंको भी फुरसत दिलानेमें वे मददगार हो सकते थे। मुझे शरीर-श्रम करके जीवन-निर्वाह नहीं करना पड़ता, थोड़ी मेहनतसे ज्यादा कमा सकनेवाले कुछ लोगोंमें पुस्तक खरीदनेकी शक्ति होती है, अिसलिअे नवजीवन प्रकाशन मंदिर पुस्तकें छापनेका धन्धा चला सकता है और मेरे जैसे लेखक निश्चिन्त होकर साहित्य-सर्जन कर सकते हैं, तथा महात्मा गांधी, रवीन्द्रनाथ टागोर जैसे नररत्न भी पैदा हो सकते हैं। फुरसतकी ही बदौलत शंकरा-चार्य जैसे अनेक तत्त्वज्ञानी तत्त्वज्ञानका विकास कर सके हैं और साधु-सन्त भक्तिका प्रचार कर सकते हैं। अिन्हींके कारण पिरामिड, ताजमहल, देलवाड़ेके मन्दिर, नालन्दा, मोहन-जो-दड़ोकी रचनायें हुआी हैं। अणुमें रहनेवाली अद्भुत और प्रचण्ड शक्तिकी शोध करनेमें, बिजली तथा किरणोंकी वैज्ञानिक खूबियां जाननेमें तथा हैरतमें डालनेवाले प्रचण्ड

है वह हमारे पूर्वजोंको जितनी मिलती थी अुतनी भी हमें नहीं मिलती ? सौ वर्ष पहलेका किसान जिस निश्चिन्ततासे जीवन-निर्वाह करता था और अपने बडे परिवारको पालता था, अुस निश्चिन्ततासे अगर आजका किसान अपना काम करे तो वह बरबाद ही हो जाय। कच्चे रास्ते पर तेजीसे दौडनेवाला घोडा या साडनी ही जब मुसाफिरी या सन्देशा लाने-ले जानेके तेज साधन थे, तब मनुष्यको जितनी फुरसत थी अुतनी रेलगाडी मिलनेके बाद नहीं रही, और रेलगाडी मिलने पर जो फुरसत थी वह हवाओी जहाज मिलनेके बाद नहीं रही। महाभारतके युद्धने हमारे मन पर पुराने जमानेमें होनेवाले बडेसे बडे युद्धका संस्कार डाला है। दोनों पक्षोंकी मिलकर अठारह अक्षौहिणी* सेनाने — अठारह ही दिनोंमें अुस समयकी सारी 'आर्य' जातियोंने — आपसमें अेक-दूसरेका संहार किया। मगर अुस बडे युद्धमें भी आजकी अपेक्षा योद्धाओंको कितनी निश्चिन्तता और फुरसत थी ? मुहूर्त पूछा जाता था, सेनायें अिकट्ठी होती थीं, बीचमें ग्रहण पडता तब दोनों पक्षोंके बीच संधि घोषित हो जाती थी और अुस समय दुश्मन भी अेक-दूसरेसे मिलते और आमोद-प्रमोद करते थे, लडाओीके दरमियान आम तौर पर सूर्यास्तके बाद लडाओी बन्द रहती थी, तब दुश्मनकी छावनीमें भी जाया जा सकता था, रातको कथा-कीर्तन होता था और वह 'ब्लैक आअुट' के बिना ही चलता था। भयंकर युद्धके बीच भी फुरसत और शांति रहती थी, मानो हाओीकोर्टमें काओी 'लाग काज' (बडा मुकदमा) दायर किया गया हो। पर आज तो यह हालत है कि दो माह पहलेसे जिसकी तारीख जाहिर हो चुकी हो अैसी किसी विचार-परिषदमें भी कोओी आदमी शान्त चित्तसे नहीं पहुंच सकता। कुछ लोग तो अैसे निकल ही आयेंगे जो बडी मुश्किलसे समय निकालकर विमान द्वारा वहां पहुंचे होंगे। फिर वहां पहुंचकर सभीको अिस बातकी जल्दी पड जाती है कि कैसे तीन दिनके निश्चित कामको दो ही दिनमें पूरा कर दिया जाय। कुछ लोग अुसमें से भी जल्दी निकल जानेवाले रहेंगे। कुछ स्वयं

* २१८७० रथ, २१८७० हाथी, ६५६१० घोडे तथा १०९३५० पैदल सिपाहियोंसे बना हुआ सेनाका अेक घटक।

है तथा किसी गवैये, नाचनेवाली या हरिकीर्तनकारको बुलाकर या ग्रामोफोन बजाकर वन-भोजनके कार्यक्रमकी योजना करते हैं, तब अुसमें कलाका निर्माण करनेवाले दूसरे होते हैं और अुनके आश्रयदाता तथा अुनकी कलाका अुपभोग करनेवाले दूसरे होते हैं। जो लोग अिन कलाओंका निर्माण करते हैं, वे अपना फुरसतका वक्त अिनमें नहीं लगाते, बल्कि पराधीनता अथवा धनकी अिच्छासे सीधा जीवन-निर्वाहका श्रम ही करते हैं। वे कलाका अुपभोग भी नहीं करते, अथवा अपने आश्रयदाताओंके अुपभोगमें जो बच रहती है अुसीका अुपभोग कर सकते हैं। रसोअिये, होटलवाले या गवैये अपने कलामय व्यवसायको पेटके लिअे की जानेवाली मेहनत ही समझते हैं, अिसके लिअे वे ज्यादा ग्राहकोंकी तलाशमें रहते हैं और वे भी ग्राहकके फुरसतवादमें ही श्रद्धा रखनेवाले होनेके कारण अैसी युक्तियां ढूंढते हैं, जिनसे अिस मेहनतको कम किया जा सके और अपने कला-सर्जक व्यवसायमें से फुरसत प्राप्त की जा सके। अुन्हें अपने व्यवसायमें कलाकी अुपासना नहीं मालूम होती। अिसलिअे फुरसत निकालकर वे दूसरी कलाओंके अुपासक बनना चाहते हैं, और अुनमें भी वे अधिकतर कलाके निर्माता नहीं बनते, बल्कि किसी दूसरे पेशे-वर कलाकारके आश्रयदाता ही बनते हैं। रसोअिया अपनी फुरसतका वक्त सिनेमामें बिताता है, सिनेमाका नट होटलमें या वेश्याओंके यहां पड़ा रहता है, कीर्तनकार 'ब्रह्म-भोजन' की खोज करता है, और ब्रह्मज्ञानी साधु गांजे-भंगके सेवनमें विश्राम पाता है। ज्यादातर सभी लोग सिनेमा-नाटक, घुड़दौड़, क्रिकेट या अैसी ही कलाओंके आश्रयदाता बनते हैं, जिनमें थोड़े लोगोंकी मेहनतका अुपभोग बहुतसे लोग अेकसाथ कर सकें और बहुतसी अिन्द्रियोंको सन्तुष्ट किया जा सके। आज तो बहुतसी कलाओंका अन्तिम स्थान सिनेमा-घर है। वहांकी पोशाक, नृत्य, संगीत, घरकी सजावट, शृंगार, चित्र वगैरा समाजकी कलाके आदर्श बनते हैं। अुसमें सभी कला-सर्जकोंका सहयोग होता है। चित्रकार, शिल्पी, कथा-लेखक, कवि, गायक, वैज्ञानिक सबको वहां स्थान मिलता है, और वे सब वहां कलाके द्वारा जीवन-निर्वाह करते हैं और पैसा देनेवाले संयोजककी आज्ञाके अनुसार कलाका प्रदर्शन करते हैं।

ललित कलायें संस्कृतिका नवनीत मानी जाती हैं। शालायें अपने वर्षभरके शिक्षणका प्रदर्शन नाट्य-प्रयोगों द्वारा करती हैं, अितिहासकार प्रजाकी संस्कृतिके अुदाहरण-स्वरूप भव्य नगरियों और अिमारतोंकी तथा श्रेष्ठ काव्य, नाटक वगैराकी सूची देते हैं। अिन कला-सर्जकोंके जीवनमें फुरसतके लिअे कितनी जगह थी, अपनी कलाका कितना आनन्द था, चित्तमें कितनी प्रसन्नता थी, अपने साथी कलाकारोंके लिअे कितना सद्भाव और आदर था, अपने आश्रयदाताओंकी खुशामद करनेके लिअे अपनी कलाको कितना बिगाड़ना या गिराना पड़ता था, और अपने शौकसे नहीं बल्कि अपने आश्रयदाताओंको खुश करनेके लिअे अपने व्यक्तित्वको कितना कुचलना पड़ता था, अिसका ये संस्कृतिका नवनीत चखनेवाले और अुसका गुणगान करनेवाले शायद ही कभी अन्दाज लगाते हैं। यह सच है कि फुरसतकी बदौलत अिन कलाओंका पोषण हुआ, मगर फुरसत किसकी और कितनोंकी? कलाके सर्जकोंकी या आश्रयदाताओंकी? और अिन आश्रयदाताओंको फुरसत कहांसे आयी?

अिसके सिवा फुरसतको पूजनेवालों या फुरसतवालोंके लिअे निर्माण की हुअी कलाओंका स्वरूप भी कैसा है? सामान्य जीवनमें जैसे अंग-विक्षेप करते ही न बने, संगीतके स्वर और तालसे अगर अुनका सम्बन्ध न हो तो देखनेवालोंको नृत्य करनेवालेके सम्बन्धमें यह शंका पैदा हो जाय कि अुसे चित्तभ्रम तो नहीं हो गया है या अंग्रेजीमें जिसे 'सेन्ट वाअिटसका नाच' कहते हैं अैसा वायुरोग तो नहीं हो गया है और जो वेश-भूषा, हाव-भाव और रंग-बिरंगी किरणों और भड़कीली सजावटके बिना फीकी पड़ जाय, वह है हमारी आजकी रुचीसे रची नृत्यकला। और अिसी कलाको सीखनेके पीछे बाल-मंदिरके बच्चोंसे लेकर युनिवर्सिटीके तरुण-तरुणियों तक सब बेचैन रहते हैं। जैसे लम्बे और पतले कान-नाक, आंखें, कमर, अुंगलियां और नख-वाले मनुष्य दुनियामें कहीं भी देखनेको नहीं मिलेंगे और अगर दिखें तो विचित्र प्राणियों जैसे लगें, अुन्हें हम चित्रकलाके अुत्तम नमूने मानने लगे हैं। हमें लगता है कि अिन नृत्य-चित्र वगैरामें जो सौन्दर्य

मालूम होता है, अुसका कारण अुनके अद्भुत अंग-विक्षेप है या नाक, कान, आंख वगैराकी असामान्य रचना है। सच पूछा जाय तो अिनकी आकर्षकताका आधार सबकी अिन्द्रिय-मोहन शक्ति ही है। कुरूपता दो प्रकारकी होती है: अेक नफरत पैदा करनेवाली, बीभत्स लगनेवाली और कंपकंपी पैदा करनेवाली, जैसे, राक्षसकी, यमदूतकी, हिडिम्बाकी, सूअरकी। दूसरी है नाजुक और शृंगार की हुअी कुरूपता। यह कुरूपता अैसी है कि अगर अिसका शृंगार अुतार डाले तो दुर्बलता, अल्पवीर्यता, रोग या विकलांगतामें ही अिसकी गिनती हो। मगर नाजुक और शृंगार की हुअी होनेसे कुरूपता होते हुअे भी वह वीर्यवान सुरूपता जैसी ही अिन्द्रियोंको मोहनेवाली लगती है। मेरे खयालसे विचार करने पर हमें विश्वास हो जायगा कि आज हम कलाके नाम पर ज्यादातर नाजुक कुरूपताको ही सौंदर्य मानने लगे हैं। जितनी ज्यादा अल्पवीर्यता होती है, अुतने ही ज्यादा शृंगार, हाव-भाव वगैरासे अुसे ढकनेकी कोशिश की जाती है। और देखनेवाले अुस बाहरी रंग पर ही मुग्ध होकर रह जाते हैं, अुसके पीछे रहनेवाली कुरूपताको नहीं देख पाते।

परन्तु यह थोडा विषयांतर हो गया। मूल बात फुरसतकी है। और अुसमें कहना यह है कि फुरसत-पूजामें से निकले हुअे कला, साहित्य, काव्य वगैरा अुथले, अिन्द्रियोंको आकर्षित करनेवाले, रागद्वेषसे भरे हुअे और ज्यादातर बाजारू वृत्तिके होते हैं। अपने जीवनके नित्य और नैमित्तिक कार्योंमें, सम्बन्धोंमें व श्रममें जिस कृतार्थता और प्रसन्नताका अनुभव होता है, अुसके परिणाम-स्वरूप अुन कामोंको सुशोभित करनेकी, अुन सम्बन्धोंमें भक्ति, मिठास और रसिकता लानेकी और अुस श्रममें पारंगतता प्राप्त करने तथा सुन्दरता भरनेकी जो प्रवृत्ति होती है, अुसमें निर्माण होनेवाली कला, संस्कृति वगैरा अलग ही प्रकारकी होगी। अिसकी कीमत पैसोंमें आंकी ही नहीं जा सकती। अिसकी कदर करनेके लिअे जो कुछ दिया जाय, वह देनेवालेको फूल नहीं

बल्कि फूलकी पखुरी जैसा ही लगेगा और लेनेवालेकी नजर दी गअी चीज पर नही बल्कि देनेवालेके भाव पर ही रहेगी।*

अिस बातसे कोअी अिनकार नही कर सकता कि मानवकी अुन्नतिके लिअे फुरसत जरूरी चीज है। शान्तिसे खाने या सोनेका भी समय न मिले, जीवनमे हमेशा 'समय नही' का ही स्वर प्रधान हो अुठे — यह स्थिति कभी भी अिष्ट नही है। मगर दिनमे कुछ घटे खूब दौड-धूप करके भूतकी तरह काम करना, बादमें कुछ घटे मौज-शौकके कार्यक्रममें बिताना और फिर नीद लानेके लिअे कोअी दवा-दारू लेकर सवेरे सात-आठ बजे तक न पूरी नीद और न पूरी जागृतिकी हालतमे बिस्तर पर करवटे बदलते रहना — अिसे फुरसत नही कहा जा सकता। फुरसतका जो सच्चा सुख जीवनके सारे कामोको शान्तिसे कर सकनेकी स्थितिमे मिल सकता है, वह कामका वेग बढाकर फुरसत निकालनेकी कोशिशसे नही मिल सकता। सुख तो अेक ओर रहा, पर अिस तरह अभी तक यह फुरसत भी मिलनेकी आशा नही दिखाअी पडती।

वेगवान यत्रों द्वारा हमने समयको धोखा देनेकी कोशिश प्रारम्भ की है। बहुत तेजीसे चीजे तैयार करना, तेजीसे जगहे बदलना — अिस तरह वेगके प्रति हमारा मोह पागलपनकी सीमा तक पहुच गया है। फिर भी समयको धोखा देनेकी स्थितिमे हम अभी कितनी दूर है? अभी अैसे विमान नही बने है जो हवामे आवाजकी गतिमे होड लगा सके, परतु अैसी कोशिश अवश्य जारी है। मगर प्रकाश और

* स्वामी सहजानदके जीवन-चरित्रमे मैंने अुनके जीवनकी अेक घटनाका वर्णन किया है। आत्माराम नामके अुनके अेक दरजी शिष्यने अुन्हे भेंट करनेके लिअे अेक सुन्दर अगरखा सीया। भावनगरके दरबार अिस अगरखेको देखकर अितने खुश हुअे कि अैसा ही अगरखा अुनके लिअे सी देने पर सौ रुपये सिलाअी देनेको वे तैयार हो गये। मगर दरजीने कहा, "अैसा दूसरा अगरखा तो मुझसे सीया नही जायगा। अिस अगरखेमे तो प्रीतके टाके पडे हैं। अैसे टाके आपके अगरखेमें डालनेके लिअे दूसरी प्रीत मैं कहासे लाअू?" सच्ची कलाका सर्जन अिस तरह होता है।

बिजलीकी गतिके सामने अिस गतिकी कोअी कीमत नहीं। जब आठ घंटोंमें बम्बअीसे लन्दन पहुंचानेवाले विमान बनेंगे, तब कहीं हम बड़ी मुश्किलसे आवाजकी गतिकी बराबरी कर सकेंगे। १/३० सेकंडमें पहुंचानेवाले विमान बनाने पर हम प्रकाशकी बराबरी कर सकेंगे। कहां १/३० सेकंड और कहां आठ घंटे! समयका कितना बिगाड़! और मनकी गतिके सामने तो प्रकाशकी गति भी चाहेकी गतिके सामने बीरबहूटीकी गतिके बराबर है। सच्ची गति तो तब प्राप्त होगी जब हम मनके वेगसे अिच्छित स्थान पर देहसहित पहुंचने और चीजें बना लेनेकी स्थितिको पहुंच जायेंगे! मगर अुस समय वह फुरसत — शान्ति — सुख — विश्रान्ति हम भोग सकेंगे या नहीं, यह ठीक-ठीक नहीं कहा जा सकता। बहुत करके तो हम नहीं भोग सकेंगे, हां, जीवमात्रके नाशके परिणाम-स्वरूप कयामतकी राह देखते कब्रमें या अन्तरिक्षमें पड़े रहनेकी फुरसत मिल सकती हो तो भले मिल जाय! या फिर सभी लोग सत्ययुगके सत्य-संकल्पवाले और शुद्ध चित्तवाले मनुष्य बन जाय तब मिल सकती है!

बचपनकी अेक बात मुझे याद आ रही है। अेक मुसलमान किसानका हमारे परिवारके साथ स्नेह-सम्बन्ध था। अुसके जवान लड़केको बम्बअी देखना था। हमारे कुटुम्बमें किसीकी शादी थी। मेरे पिताजीने विचार किया कि अिस बहाने अगर यह लड़का बम्बअी जाकर शहर भी देख ले और वहांकी शादीमें भी शरीक हो जाय तो क्या हर्ज है। अुसे तैयार होकर आनेकी सूचना भेजी गअी और वह अपने गांवसे आ पहुंचा। किस गाड़ीसे बम्बअी जाना है, अिस पर चर्चा हो रही थी। अुन दिनों अकोलासे बम्बअी जानेके लिअे दो गाड़ियां थीं। अेक पैसेंजर थी जो लगभग अठारह घंटोंमें पहुंचती थी और भुसावलमें गाड़ी बदलनी पड़ती थी। दूसरी मेल थी जो चौदह घंटोंमें और बिना गाड़ी बदले पहुंचती थी। अुस लड़केको पता चला कि मेलका किराया ज्यादा होता है, बीचमें वह बहुतसे स्टेशन छोड़ देती है और गाड़ीमें बैठनेको भी कम मिलता है। अिसके सिवा, बहुतसे स्टेशन रातमें निकल जाते हैं, पैसेंजरका किराया कम है,

न हो, अुलटे वक्त बेकार जाता हो या अुसका दुरुपयोग ही होता हो, शरीरमें काम करनेकी शक्ति भी हो, बल्कि कामके अभावमें शरीर ढीला बनता हो, तो भी हम समय, गति आदिकी अंधपूजा करते हैं। हमने देखा कि चरखेकी अपेक्षा मिलमें ज्यादा तेजीसे कपड़ा तैयार हो सकता है। बैलगाड़ीमें या पैदल यात्रा करनेकी अपेक्षा मोटर या बस द्वारा किसी जगह ज्यादा तेजीसे पहुंचा जा सकता है, और रेलगाड़ीकी अपेक्षा विमान जल्दी पहुंचा देता है। जिसलिअे गप्पें मारने या ताश-शतरंज खेलनेके सिवा दूसरा कोओी काम हमारे पास न हो, बेकारीके कारण कोओी कमाओी भी न हो, तो भी अगर कोओी चरखा चलानेकी बात कहे तो हम ये दलीलें देते हैं — "जिस तरह कब तो कपड़ा बनेगा और कब हम पहनेंगे? चरखेसे आखिर कितना सूत निकलेगा? जिस जमानेमें चरखा कैसे चल सकता है? जिसमें कितना मेहनताना मिलेगा? यह समय और पैसेकी बरबादीके सिवा कुछ नहीं है। जितने समयमें तो दूसरा बहुतसा काम हो सकता है।" वगैरा वगैरा। अगर यह कहा जाय कि "आपके गप्पों और ताशके समयके आधे भागमें आप अपने कपड़े तैयार कर सकते हैं, चरखा दुनियामें चले या न चले, परन्तु वह आपकी जरूरत तो पूरी कर ही सकता है," तो यह बात हमारे गले नहीं अुतरती। यही हाल तेजीसे यात्रा करनेके सम्बन्धमें है। क्योंकि समयकी या अुसकी बचतकी या फुरसतकी कीमत अुसके अुपयोगके तरीके पर निर्भर है, यह न समझते हुअे अुसकी स्वतंत्र कीमत माननेकी हमारी आदत पड़ गओी है।

अगर फुरसत, समयकी बचत, गति वगैरा जीवनको समृद्ध करते हैं तथा जीवनमें निश्चिन्तता और सुख-शान्ति लाते हैं तो वे सब शोभते हैं और फायदेमन्द भी हैं, नहीं तो अुनकी कोओी कीमत नहीं समझनी चाहिये। मगर यह सब तभी हो सकता है, जब चरित्र और नीतिकी समृद्धिका महत्त्व हमारी समझमें आ जाय। जब तक हमें सिर्फ बाह्य वैभव बढ़ानेकी ही चिन्ता लगी रहेगी, तब तक बड़े बड़े शहर, जबरदस्त कारखाने, प्रचंड विमान, सर्वनाशी अस्त्र-शस्त्र,

सुख-सुविधाके अेकसे अेक बढ़िया साधन और भोगोंकी अतिवृद्धि ही हमें विज्ञान और सभ्यताकी विजय-पताकायें मालूम होगी, तब तक जीवनकी ही नहीं बल्कि पदार्थोंकी भी कीमत आंकनेका सच्चा माप हमें नहीं मिलेगा।

८

आर्थिक क्रान्तिके मुद्दे

मुझे अितना अधिक ज्ञान तो नहीं है कि मैं ठीक-ठीक यह बतला सकूं कि किस निश्चित योजना और विनिमयके साधन द्वारा अिन सब बातोंको अिस तरह व्यवहारमें अुतारा जा सकता है, जिससे जीवनके लिअे ज्यादा महत्त्वकी चीजोंकी कीमत ज्यादा आंकी जाय और कम महत्त्वकी चीजोंकी कीमत कम आंकी जाय। मगर अिस विषयमें मुझे कोअी सदेह नहीं कि हमारे विचार और व्यवहारमें नीचे लिखी क्रान्तियां होनी ही चाहिये.

१ प्राणोंकी — खास करके मनुष्यके प्राणोंकी — कीमत सबसे ज्यादा आंकी जानी चाहिये। किसी भी जड पदार्थ और स्थानकी प्राप्तिको मनुष्यके प्राणोंसे ज्यादा महत्त्व नहीं देना चाहिये।

२. अन्न, जलाशय, कपड़े, घर, सफाअी तथा तन्दुरुस्ती वगैरासे सम्बन्ध रखनेवाली चीजें और अुन्हें तैयार करनेवाले धन्धे दूसरी सब चीजों और धन्धोंकी अपेक्षा पैसेके रूपमें ज्यादा कीमत अुपजानेवाले होने चाहिये। दुश्मनीके कारण अिनका नाश करना आन्तर-राष्ट्रीय नीतिमें अत्यन्त हीन काम माना जाना चाहिये और वैसा करनेवाले मानव-जातिके शत्रु समझे जाने चाहिये।

३ किसी चीजकी विरलता तथा ज्ञान, कर्तृत्व, शौर्य वगैराकी विरलताके कारण अुस चीजकी तथा अुसे अुत्पन्न करनेवाले धन्धोंकी प्रतिष्ठा भले ज्यादा हो, मगर वह प्रतिष्ठा पैसोंके रूपमें नहीं आंकी जानी चाहिये।

४ देशकी महत्त्वपूर्ण सम्पत्ति अुसकी अन्न-अुत्पादनकी शक्ति और मानव-मर्यादाके आधार पर निश्चित की जानी चाहिये, अुसकी खनिज सामग्री, विरल सम्पत्ति या यंत्रोंके आधार पर नहीं। अगर किसी आदमीके पास सोना या पेट्रोल पैदा करनेवाली पाच अेकड़ जमीन हो और अन्न पैदा करनेवाली पाच सौ अेकड़की खेती हो और अुसे अिनमें से अेकको छोड़ना पड़े, तो आजके अर्थशास्त्रके मुताबिक वह पाच सौ अेकड़की खेती छोड़ देगा। सच्ची कीमत-गणितके अनुसार अुसे पाच अेकड़की खानें छोड़नेके लिअे तैयार होना चाहिये। अिसलिअे अैसा तरीका काममें लाना चाहिये जिससे सम्पत्तिकी कीमत स्वर्णपट्टीसे नहीं बल्कि अन्नपट्टीसे और अुपयोगिताकी शक्तिसे आंकी जाय।

५ अेक रुपया या अेक रुपयेका नोट किसी जगह रखे हुअे अमुक ग्रेन सोने या चादीका प्रमाणपत्र नहीं, बल्कि अमुक सेर या अमुक तोले अनाजका प्रमाणपत्र होना चाहिये। सिक्का यानी अमुक ग्रेन धातु नहीं, बल्कि अमुक मापका 'ग्रेन' (धान्य) ही होना चाहिये। पौंडका मतलब अक्षरशः पौंड — (रतल — अमुक हजार 'ग्रेन' धान्यके दाने) ही समझा जाना चाहिये।

६ सोनेका भाव अमुक रुपये तोला है और चावलका भाव अमुक रुपये मन है, अिस भाषाको अब निरर्थक समझना चाहिये। सच पूछा जाय तो अिसमें कोअी अर्थ रहा भी नहीं है, क्योंकि रुपया खुद ही स्थिर माप नहीं है। सोनेका भाव प्रति तोला अमुक मन गेहूं या चावल है, अैसी भाषा निश्चित होनी चाहिये (बेशक, तोले तथा मन दोनोंके वजन पहलेसे तय हो जाने चाहिये।)

७ नोट या सिक्केमें ही कर्ज चुकाना अनिवार्य नहीं होना चाहिये। अनाजके मालिकको यह अधिकार होना चाहिये कि वह नोट या सिक्केके पीछे रहनेवाले निश्चित अनाज द्वारा अपना कर्ज चुकाये। अनाज पैदा करनेवालोंसे अनाजके ही रूपमें कर या महसूलकी वसूली की जाय, तो ही सरकारकी और (खास करके शहरी तथा गैर-किसान) प्रजाकी अन्नसंकटके समय कालाबाजार, नफाखोरी वगैरासे अच्छी

तरह रक्षा हो सकती है। क्योंकि अुस हालतमें सरकारके पास हमेशा ही अन्नके भडार भरे रहेंगे।

८ व्याज जैसी चीज नही होनी चाहिये। वल्कि धन-सग्रह पर अुलटी कटौती होनी चाहिये। जिस तरह अुपयोगमें न लिया गया अनाज विगडकर या सडकर कम हो जाता है, अुसी तरह अुपयोगमें न लिया गया धन कम होता है। धन विगडकर कम भले न हो, फिर भी अुसे सभाल कर रखनेकी मेहनत तो पडनी ही है। अगर सोना-चादीको धन समझनेकी आदत न हो, तो यह वात आसानीसे समझमें आ सकती है। सोना-चादी धन नही है, वल्कि विरलता, तेजस्विता आदि गुणोकी वदौलत प्रतिष्ठाके पात्र वने हुअे आकर्षक पदार्थमात्र है। ये पडे-पडे विगडते नही है, अितना ही अिनके मालिकको अिनका व्याज या लाभ मिलता है। अिस लाभके सिवा अिन पर दूसरा कोअी लाभ या व्याज लेनेका कारण नही है।

९ यह निश्चित करना अनुचित न माना जाय कि जो चीजें अुपयोगमें लेनेसे घिसें नही या वहुत ही धीरे-धीरे घिसे अुनकी कीमत कम आकी जानी चाहिये। अुनकी प्रतिष्ठा मानी जाय। अुन पर अधिकार रखने तथा अुनका अुपभोग करनेके सम्वन्धमें नियम भी रहे। मगर अुन पर किसीका स्थिर स्वामित्व स्वीकार न किया जाय। अुन पर सवका सयुक्त अधिकार हो। यह अधिकार कुटुम्व, गाव, जिला, देश या जगतमें अुचित रूपमें वटा हुआ हो।

१० आमदनी तथा खानगी पूजीकी अूपर तथा नीचेकी मर्यादायें वाधनी चाहिये। नीचेकी मर्यादासे कम आमदनी तथा पूजीवाले पर कर वगैरा नही होने चाहिये, और अूपरकी मर्यादासे ज्यादा आमदनी तथा पूंजी रख सकनेकी गुजाअिश ही नही रहनी चाहिये।

१

कुआ और हौज

अब मैं राजनीतिक क्रान्तिके प्रश्नो पर थोडा विचार करना चाहता हू। अिस सम्बन्धमें भी पुराने जमानेसे ही मानव-समाज कअी प्रकारके राजनीतिक तत्रो और वादोका विचार और प्रयोग करता आया है। अेक व्यक्तिका राज्य, गणराज्य, प्रजाराज्य, गुरुशाही, राजाशाही, सामत-मडळशाही, महाजन-शाही, पचायत-शाही, तानाशाही (डिक्टेटरशिप), बहुमत-शाही (मेजॉरिटी राज्य) वगैरा अनेक प्रकारके तत्रोकी चर्चायें चलती ही रहती है, और शायद भविष्यमे भी चलती रहेगी।

अिसका मतलब सिर्फ अितना ही होता है कि सभी लोग मनुष्य-जीवनको सुखी बनानेके लिअे किसी न किसी तरहके राज्यतत्रका होना आवश्यक समझते है, मगर असकी (राज्यतत्रकी) आदर्श रचना अभी तक कोअी खोज नही सका है। मानव-समाज अिस सम्बन्धमे विचार और प्रयोग करता आया है, अनुभव लेता आया है, पर अभी तक कोअी प्रयोग पूरी तरह सफल नही हुआ है, और न कोअी लम्बे अरसे तक सन्तोषजनक रूपसे काम देनेवाला साबित हुआ है।

कहा जा सकता है कि आज दुनियाके समझदार व्यक्ति और अनका अनुसरण करनेवाले देश तीन मुख्य वर्गोमें बटे हुअे है प्रजा-कीय बहुमतशाही (डेमोक्रेसी), फौजी तानाशाही (फासिस्ट डिक्टेटरशिप) और मजदूरोकी तानाशाही (साम्यवादी डिक्टेटरशिप)। फिर, जिस आर्थिक वादमें श्रद्धा हो असके मुताबिक अिनमे पूजीवादी, समाजवादी वगैरा भेद पडते है। और हरअेक देशकी प्रत्यक्ष परिस्थितिकी दृष्टिसे हरअेक 'शाही' के व्यावहारिक स्वरूपोके बारेमें कअी तरहके विचार

बनते है। जैसे, जातिवार मताधिकार, सयुक्त मताधिकार, सर्वजन-मताधिकार, विशिष्ट जन-मताधिकार, प्रत्यक्ष चुनाव, अप्रत्यक्ष चुनाव, दो धारासभायें, अेक धारासभा, बलवान केन्द्र, मर्यादित केन्द्र, वगैरा वगैरा।

अगर हरअेक मतवालेकी प्रामाणिकताको स्वीकार करे, तो अिन सब पक्षोका सिर्फ अितना ही अर्थ होता है कि मनुष्यको सुखी बनानेके अुपाय खोजनेमे हम आज भी अधोकी तरह निष्फल प्रयत्न कर रहे है।

अिन वादोकी सूक्ष्म आलोचना करनेका मेरा अिरादा नही है। भारतके ज्यादातर सयाने लोगोका मत है कि हमारे अपने देशके लिअे प्रजाकीय बहुमतशाही अनुकूल सिद्ध हो सकती है, और आज तो यह बात निश्चित जैसी हो गयी है कि जो भी प्रयोग करने हो वे सब अिस शाहीके अनुकूल रहकर ही किये जाने चाहिये।

पर अिस मूल आधारको स्वीकार कर लेनेके बाद भी मता-धिकार, चुनाव, राजनीतिक पक्षो वगैराके सवाल कम झगडा और खून-खराबी करानेवाले तथा कम अुलझनमे डालनेवाले नही है। मात्रा, हिज्जे, व्याकरण, विराम-चिह्न वगैराकी अेक भी भूल न हो और बहुत साफ अक्षरोमे लिखा गया हो, तो भी कानून चीज ही अैसी है कि अुसका अप्रामाणिक अुपयोग करनेके रास्ते निकल ही आते है। क्योकि कानून अुन लोगोके बनाये हुअे रहते है, जिनकी दडशक्ति पर श्रद्धा होती है, और अिस दडशक्ति पर कानूनकी विधियोका नियत्रण होता है। अिसलिअे जिस हद तक यह दडशक्ति कमजोर साबित होती है, अुसी हद तक कानून तोडनेके रास्ते भी निकल आते है।

यह दडशक्ति कअी तरहसे कमजोर साबित होती है। लेकिन अिन सारी कमजोरियोका अेकमात्र कारण अगर बतलाना हो तो वह शासित प्रजाका चरित्र है।

यह कहावत प्रसिद्ध है कि 'कुअेमें होगा अुतना पानी हौजमे आवेगा।' 'अुतना' के साथ 'वैसा' शब्द भी जोडा जा सकता है। अर्थात् 'कुअेमें होगा अुतना और वैसा पानी हौजमे आवेगा'। यह हो

सकता है कि कुअेंकी अपेक्षा हौजमें कम पानी आवे, और अैसा होता ही है। पर यह स्पष्ट है कि अुससे ज्यादा नहीं आ सकता। फिर कुअेंका पानी साफ होते हुअे भी वह हौजमें जाकर बिगड सकता है, परन्तु कुअेंका पानी गंदा हो और हौजमें साफ पानी आवे यह नहीं हो सकता। अिसलिअे कुअेंकी सफाअीके बाद हौजकी सफाअी पर ध्यान देनेकी जरूरत अवश्य है, पर यह नहीं हो सकता कि कुआं गंदा हो और हौज साफ रहे।

हौज शासक-वर्ग है और कुआं समस्त प्रजा है। चाहे जैसे कानून और विधान बनाअिये, परन्तु यह कभी नहीं होगा कि समग्र प्रजाके चरित्रकी अपेक्षा शासक-वर्गका चरित्र बहुत अूंचा हो, और प्रजा अपने चरित्रके बल पर जितने सुख और स्वातंत्र्यके लायक होगी, अुससे ज्यादा सुख-स्वातंत्र्य वह नहीं भोग सकेगी। जिस राज्य-प्रणालीमें शासक-वर्गको सिर्फ दण्ड देनेका ही अधिकार नहीं मिलता, बल्कि अुसके साथ धन और प्रतिष्ठा भी मिलती है, अुसमें वे सारी अनुकूलतायें तो होती हैं जिनसे शासक-वर्गका चरित्र प्रजाके चरित्रसे ज्यादा हीन बने, परन्तु चरित्रके अुन्नत होनेकी अनुकूलतायें नहीं होती। और आखिरमें शासक-वर्ग पैदा तो होता है शासितोंमें से ही। अतः धीरे धीरे यह नतीजा होता है कि शासन शासित प्रजाके हीनतर भागके हाथमें चला जाता है। सभी प्रकारकी राज्य-प्रणालिकायें थोडे ही समयमें जो सडने लगती हैं अुसका यही कारण है।

यह सच है कि कुअेंसे हौज छोटा होता है। परन्तु शासक-वर्गका हौज अितना छोटा नहीं होता कि अूपरका थोडा हिस्सा साफ हो और नीचेके हिस्सेमें सख्त कानूनकी शोधक दवा (डिस-अिन्फेक्टन्ट) डाल दें, तो सारी राज्य-व्यवस्था अच्छी तरह चलती रहे। क्योंकि प्रजाका प्रत्यक्ष सुख और स्वातंत्र्य अूपरी दरजेके शासकोंके हाथमें नहीं, बल्कि नीचेके शासकोंके हाथमें होता है, और शोधक दवाअियां चाहे जितनी तेज हों, वे खराबीका बहुत थोडा अंश ही दूर कर सकती हैं।

अिससे, प्रजाके हितचिन्तकों, सयाने लोगों और खुद प्रजाको भी समझना चाहिये कि सुख तथा स्वातंत्र्यकी प्राप्ति सिर्फ राजकीय

विधान और कानूनोकी सावधानीने की हुआी रचना या अुद्योगो वगैराकी योजनाओ द्वारा नही होगी, न शासक-वर्गमें थोडे अच्छे लोगोके रहनेसे ही अुनकी प्राप्ति होगी, बल्कि समस्त प्रजाकी चरित्र-वृद्धि तथा शासक-वर्गके बहुत बडे भागकी चरित्र-वृद्धि द्वारा ही होगी। अच्छे कानून और योजनायें अिसमें मदद कर सकती है, मगर सिर्फ साधनके रूपमे। वे मूल कारण नही बन सकती। अगर प्रजाको दुखी करनेके लिअे अुसी प्रजाके लोगोकी जरूरत पडती हो, तो दुष्टसे दुष्ट विजेता भी बलवान चरित्रवाली प्रजाको लम्बे समय तक परेशान नही कर सकता। और प्रजाको सुखी करनेके लिअे भी अगर अुसी प्रजाके लोगोकी जरूरत रहती हो (और वह जरूरत तो हमेशा ही रहती है), तो धर्मात्मा राजा और प्रधान-मडल भी चरित्र-शून्य प्रजाको लम्बे समय तक सुखी नही रख सकेगा।

परन्तु जाच करने पर पता चलेगा कि हम अिससे अुलटी श्रद्धाके आधार पर काम करते है। हम मानते है कि प्रजाका सामान्य वर्ग भले बहुत ज्यादा चरित्रवान न हो, परन्तु बहुत अच्छी तनख्वाह वगैरा देकर हम शासक-वर्गके लिअे अुसमे से अच्छे चरित्रवान व्यक्ति जरूर पा सकते है और अुनके द्वारा जनहितकी योजनायें और कानून बनाकर प्रजाको सुखी बना सकते हैं। यह वैसी ही श्रद्धा है जैसी यह श्रद्धा कि गदे पानीमें थोडासा साफ पानी मिला देनेसे सारा पानी साफ हो सकता है। अैसा हो तो नही सकता, पर सब जगह प्रचलित अिस श्रद्धाका नतीजा यह होता है कि शासित-वर्ग अपनी सारी सुख-सुविधाओके लिअे राज्यकी तरफ ही देखता है, अपनी खामियोके लिअे अुसीको दोष देता है और अलग अलग पक्षोके आन्दोलनोका तथा दगे करानेवालोका शिकार बनता है। मानो चुनाव और जुलूस, परिषदे, समितिया, भाषण, हडताले और दगे ही प्रजाकीय शासनके अग हो। अितना होते हुअे भी अगर प्रजाओंके जीवनमें व्यवस्था बनी रहती है, तो अुसका कारण राज्यके कानून या व्यवस्था-शक्ति नही है, बल्कि अिन सारी धाधलियोके बावजूद प्रजाके मध्यम वर्गोमे रहनेवाली स्वाभाविक व्यवस्था-प्रियता और शान्ति-प्रियता है।

२

राजनीतिक हलचलें और प्रथायें

यह सब पढ़कर अब पाठकका जी शायद अुकता गया होगा। अुसे लगता होगा कि अेक ही बातको मैं बार-बार क्यों दोहराया करता हूँ। चरित्रकी आवश्यकताके सम्बन्धमें किसीका मतभेद ही कहाँ है, जो मुझे बार-बार यह बात कहनेकी जरूरत पड़ती है? अिस आवश्यकताको स्वीकार करके तथा अिसमें मदद करनेके लिअे ही सारी राजनीतिक पद्धतियों पर विचार होता है। कोअी समझदार आदमी सिर्फ राजनीतिक पद्धतियों पर ही जोर नहीं देता। चरित्रके होने पर तथा चरित्र-निर्माणमें मददरूप होनेके लिअे कौनसी राज्य-व्यवस्था और प्रथायें अच्छी हैं, अिस पर विचार करनेकी जरूरत है।

यह विचार ही धोखेमें डालनेवाला है। जब चरित्रका पारा बहुत अुतर जानेसे मनुष्योंके दुर्गुण अुत्पन्न हुअे हों और राजनीतिक हलचलें तथा अुनमें से पैदा होनेवाली युद्धके रूपमें हिंसक या दिखाने भरके लिअे अहिंसक लड़ाअियाँ अिस चरित्रको हीनतर बनानेका ही काम करती हों, तब यह कहना कि चरित्रके महत्त्वको स्वीकार करके चला गया है, खुदको और दूसरोंको धोखा देना है, अथवा यों कहिये कि अुसमें मानवके स्वभावमें निहित द्वेषभावसे पैदा होनेवाले चरित्रको मानकर चला गया है, सद्भावको नहीं। अुलटे, सद्भावकी कीमतके सम्बन्धमें सन्देहकी दृष्टि रही है। सारी राजनीतिक हलचलों और पद्धतियोंका प्रयत्न द्वेषका संगठन करनेके लिअे होता है, सद्भावका संगठन करनेके लिअे नहीं।

पिछली सदीके आरम्भके अर्थशास्त्री यह मानकर चलते थे कि हरअेक मनुष्य अर्थ-चतुर (अपने आर्थिक हितोंको अच्छी तरह समझनेवाला और अुनकी रक्षा कर सकनेवाला — economic man) होता है। अिस परसे अुन्होंने देश-देश तथा मालिक-नौकरके आपसी अर्थ-

व्यवहारोमे हस्तक्षेप न करने (Laissezfaire) का वाद चलाया। आगे चलकर धीरे धीरे समझमें आया कि यह मान्यता गलत है, और अुसमें से विविध अर्थ-व्यवहारोमे राज्य द्वारा हस्तक्षेप करनेके औचित्यका वाद अुत्पन्न हुआ। वह अब अिस हद तक बढा है कि आर्थिक सम्बन्धोमे मनुष्यके व्यवहारकी स्वतत्रताका बिलकुल अन्त ही हो जाता है। पहले वादने यह मान लिया कि मनुष्यमात्र अपने हितको समझता है और अुसकी रक्षा करनेकी अुसमे स्वाभाविक शक्ति होती है, दूसरे वादकी मान्यता है कि बलवान पक्षमे ज्ञान और शक्ति होते हैं और चरित्रका (यानी सद्भाव, न्याय वगैराका) अभाव होता है तथा कमजोर पक्षमे चरित्र होता है और ज्ञान तथा शक्तिका अभाव रहता है। ये सारी मान्यताये ही गलत होनेसे मनुष्यके दुख जैसेके तैसे रहे हैं।

अिसी तरह हम डेमॉक्रेसीकी, चुनावोकी, राजनीतिक पक्ष-सगठनकी तथा अुन पक्षोके कार्यक्रमोकी चर्चा तथा आलोचना करते है। परन्तु मूलमें रहनेवाले दोषका कभी विचार नही करते। हमारी हलचले 'अेक-दूसरेको प्रसन्न करके परम श्रेय प्राप्त करने' की सिखावनका अनुसरण नही करती, बल्कि 'अेक-दूसरेको नाराज करके अेक-दूसरेका श्रेय प्राप्त करनेका'* प्रयत्न करनेवाली होती है। सबको लाभ पहुचानेके लिअे अेकत्र होना हमारे सगठनोका ध्येय नही होता, बल्कि विरोधीको हराने, गिराने, लूटने और हैरान करनेके लिअे ही हम अेकत्र होते है और लोगोको भी अुसमे शामिल करनेकी कोशिश करते है। विचार, वाणी, सभा, सस्था-रचना वगैरा सबकी स्वतत्रताकी प्राप्तिके पीछे हमारा हेतु मानव-मानवके बीच सद्भाव बढाना नही, बल्कि किसी विरोधी पक्षवालेके प्रति द्वेषभाव बढाना होता है। कभी यह विरोधी पक्ष देशी या विदेशी शासक-वर्ग होता है, कभी यह प्रतिद्वन्द्वी कोअी राजनीतिक पक्ष होता है और कभी यह प्रतिद्वन्द्वी अपने ही पक्षका राजनीतिक अुपपक्ष होता है।

* परस्पर भावयन्त श्रेय परमवाप्स्यथ — गीता।

हममें रहनेवाले अिस द्वेष और अविश्वासका असर हमारे विधानों और कानूनोंमें दिखाअी पड़ता है। कहा जाता है कि औरंगजेबका अैसा स्वभाव हो गया था कि वह किसी पर विश्वास ही नहीं कर सकता था। मगर सेनापति, मंत्री, सूबा वगैरा अधिकारियोंके बिना काम तो चल ही नहीं सकता था। अिसलिअे वह 'अ'को सेनापति बनाकर 'ब' को अुस पर जासूसी करनेके लिअे अुपसेनापति बना देता था। अिस तरह अुसने हरअेक विभागमें अेक-दूसरेके प्रतिपक्षियोंको जोड़ रख दिये थे। नतीजा यह हुआ कि कोअी भी पूरे आत्म-विश्वास और हिम्मतसे काम नहीं कर सकता था, सभी तमाम शिथिलता आ गअी थी और अधिकारियोंमें अेक-दूसरेकी भूलें ढकनेकी आदत बढ़ गअी थी।

विचार करने पर मालूम होगा कि हमारी सभी राजनीतिक व्यवस्थायें औरंगजेबी ही हैं। हम राजा रखते हैं, मगर वह सिर्फ नामका पुतला होता है, गवर्नर नियुक्त करते हैं, मगर वह अपने मंत्रि-मंडलकी मर्जीके खिलाफ कुछ भी नहीं कर सकता, केन्द्रीय सरकार चाहती है कि ज्यादासे ज्यादा सत्ता अुसीके हाथमें रहे, प्रान्तीय सरकार चाहती है कि केन्द्रीय सरकारकी सत्ता निश्चित मर्यादामें ही रहे, हर व्यक्ति सत्तास्थानका लालची और हर व्यक्ति दूसरेके प्रति अीर्ष्या रखनेवाला होता है।

अैसे मानससे अुत्पन्न होनेवाली व्यवस्थायें अगर खर्चीली, दीर्घसूत्री, केवल कागजी घोड़े दौड़ानेवाली, जटिल और सिर्फ बाहरी शोभा रखनेवाली तथा खटपट, निन्दा, अीर्ष्या, चुगलखोरी, रिश्वत, वैरभाव वगैरासे भरी हुअी हों, तो अिसमें कोअी अचरजकी बात नहीं है। अिनके चुनावोंमें सारी प्रजाको मताधिकार हो चाहे थोड़ोंको, चुनाव सीधा हो चाहे टेढ़ा, अैसी व्यवस्था हो जिसमें सभी वर्गोंके प्रतिनिधि अुचित संख्यामें चुने जा सकें या [illegible] हो—हर हालतमें चुने हुअे प्रतिनिधि सिर्फ हाथ अुठानेका काम ही कर सकते हैं, राज्यतन्त्रको सुधारनेका काम अुनसे नहीं हो सकता। वे ज्ञान और चरित्रमें चाहे जैसे हों, मगर जो थोड़े-बहुत अतिचतुर व्यक्ति होते हैं वे ही व्यवहारमें सारी सत्ता भोगते हैं। वे अगर अच्छी भावनावाले हुअे तो प्रजाको

सुख पैसे दो पैसेभर वढ जाता है और हीनवृत्तिके हुअे तो प्रजा पर दुःखोंकी वर्षा करने लगते हैं।

डेमॉक्रेसीका व्यावहारिक अर्थ सिर गिनना ही रह गया है। कोअी यह तो कभी कह ही नही सकता कि ज्यादा सिरोका अर्थ ज्यादा समझदारी है, अिसलिअे जिस ओर ज्यादा सिर अूचे हो अुस ओरका निर्णय ज्यादा समझदारी भरा होगा। महत्त्व अिस वातका है कि सिर किस कामके लिअे अूचे हुअे हैं, सिर्फ अिस वातका नही कि कितने सिर अूचे हुअे हैं। गदे पानीके पाच तालावोकी अपेक्षा साफ पानीका अेक छोटा-सा झरना ज्यादा महत्त्वका है।

मतलव यह है कि सिर्फ ज्यादा सिरोंके अूचे अुठनेसे प्रजाका सुख नही वढ जाता। अूचे अुठनेवाले सिर योग्य गुणोवाले होने चाहिये। अेक चाद जितनी चादनी फैलाता है अुतनी करोडो तारे मिलकर भी नहीं फैला सकते।

अिसके सिवा, डेमॉक्रेसीमें सिर्फ कानून वनानेवालो और हुक्म निकालनेवालोंका ही चुनाव होता है। कानूनो और हुक्मो पर अमल करनेवाले तो चुनावके क्षेत्रसे वाहर ही रहते है और अुनकी भरती अलग ही ढगसे होती है। अगर अधिकारियोंकी भरतीका तरीका अैसा न हो कि सिर्फ अच्छे व्यक्ति ही लिये जा सकें, तो प्रजाके प्रतिनिधियोंके अच्छे होने पर भी शासन-प्रवन्धमें ज्यादा फर्क नहीं पड सकता।

अिसलिअे यह विचार जितना महत्त्वपूर्ण है कि किस तरह अच्छे ही प्रतिनिधि चुने जा सकते हैं और अच्छे ही अधिकारी नियुक्त किये जा सकते हैं, अुतना यह विचार नही कि किस तरह अमुक राज-नीतिक पक्षका वहुमत हो सकता है और न यही विचार कि सभी वातोमें वहुमतसे ही निर्णय करना चाहिये।

७-११-'४७

३

चुनाव

चुनावों द्वारा हमारी डेमॉक्रेसी चलती है और सरकारी नौकरों द्वारा शासन-तंत्र चलता है। प्रतिनिधियोंके मुकाबले सरकारी नौकर राज्यतंत्रके अधिक स्थिर अंग होते हैं। परिणाम-स्वरूप प्रजा पर अुनका ज्यादा प्रत्यक्ष अंकुश होता है और राजकाजका ज्यादा अनुभव भी अुन्हींको होता है। यह सच है कि प्रतिनिधियोंकी अुनके अूपर सत्ता होती है, परंतु अुनकी नियुक्ति अस्थायी और बार-बार बदलनेवाली होनेके कारण तथा नौकर ही अुनके हाथ-पाँव तथा आँख-कान होनेके कारण प्रतिनिधियोंके वाद और सिद्धान्त बहुत बार अपनी जगह पर धरे रह जाते हैं और प्रत्यक्ष कारबार नौकरोंकी सलाह और मतके मुताबिक ही चलता रहता है। अुसमें भी फिर सबसे छोटे नौकर और सबसे बड़े नौकरके बीच जितने ज्यादा दरजे होंगे, सुधारके प्रयत्नोंका असर प्रजा तक पहुँचनेमें अुतनी ही ज्यादा कठिनाअी होगी।

अिसलिये अगर हमें सुराज्य कायम करना है, तो प्रतिनिधियोंके चुनाव और सरकारी अधिकारी और कर्मचारियोंकी भरती दोनोंके सम्बन्धमें हमारी दृष्टि साफ होनी जरूरी है।

चुनावों द्वारा हम प्रजाके प्रतिनिधि पसन्द करनेकी कोशिश जरूर करते हैं। मगर यह चुनाव करनेमें हमारा जो दृष्टिकोण होता है, अुसकी योग्यताके सम्बन्धमें हमने कभी पूरी तरह विचार नहीं किया।

विचार करने पर पता चलेगा कि चुनावमें हरअेक मतदाता अपने आदमीको मत देता है। जिस व्यक्तिके अपना होनेके विविध कारण होते हैं, जैसे वह हमारा आश्रयदाता या हमारा नियुक्त किया हुआ हो या हमारी जातिका, गाँवका, प्रान्तका, धर्मका, पक्षका, धन्धेका हो, तो वह अपना आदमी बन जाता है। अुसे चुनकर भेजनेमें मतदाताओंकी अपेक्षा यह होती है कि वह सारी जनताके हित

या स्वार्थकी नहीं, बल्कि अुनके वर्गके हित या स्वार्थकी रक्षा करनेमें ज्यादा सावधान रहेगा, और जिन रूढ़ोंके योगसे वह अपना कहलाता है, अुन कड़ीको और अुनके सभी व्यक्तियोंको दूसरोंकी अपेक्षा ज्यादा फायदा पहुंचायेगा।

चुनाव जीतनेकी अिच्छावाला प्रतिनिधि भी अपने मतदाताओंको अिसी तरहकी आशायें बंधाता है। 'मुझे भेजोगे तो आपके लिअे मैं अमुक लाभ हासिल करनेकी कोशिश करूंगा, और आपके विरोधियोंको अमुक ढंगसे चित्त करूंगा।'

अिस तरह प्रतिनिधि तथा मतदाता अपने पक्षके स्वार्थका ही विचार करके सुराज्य कायम करनेकी आशा रखते हैं। यह मध्य-कालीन श्रद्धा आज भी हमारे चुनावोंमें काम कर रही है कि अगर सभी मनुष्य अपने अपने स्वार्थकी रक्षा करें तो सबका स्वार्थ सिद्ध हो सकता है।

दरअसल यह श्रद्धा ही अनर्थों और झगड़ोंकी जड़ है। चुनावकी यह प्रथा पंच नियुक्त करनेकी पद्धतिका नहीं, बल्कि वकील नियुक्त करनेकी पद्धतिका अनुसरण करती है। 'अ' और 'ब'के बीच अगर झगड़ा हो, तो दोनों अपने वकील नियुक्त करते हैं। वकील न्यायाधीशके सामने अपने मुवक्किलोंके स्वार्थोंको पेश करते हैं। अिसमें वे अपने विरोधियोंके हितोंका विचार नहीं करते। दोनोंके विरोधी स्वार्थों पर विचार करके न्याय करनेकी जिम्मेदारी न्यायाधीश पर होती है। अिस न्यायाधीशको चाहे 'अ' और 'ब' ने ही नियुक्त किया हो, फिर भी अुनसे यह आशा नहीं की जाती कि वह किसी अेकके ही स्वार्थका खयाल रखेगा, बल्कि अुनसे यही अपेक्षा रखी जाती है कि वह किसी अेकका आदमी नहीं बनेगा, परन्तु दोनोंके स्वार्थों और विरोधोंका विचार करके ही न्याय देगा।

अिस तरह अदालतमें पार्टियोंके अपने अपने प्रतिनिधि तो होते हैं, मगर निर्णय देनेका अधिकार अिन प्रतिनिधियोंको नहीं, बल्कि अिन दोनोंसे भिन्न किसी अेकका प्रतिनिधित्व न करनेवाले सर्वमान्य

प्रतिनिधिकी होता है। यह सर्वमान्य प्रतिनिधि अेक व्यक्ति हो चाहे बहुतसे व्यक्ति हों, हरअेकसे निष्पक्ष होनेकी आशा रखी जाती है, अगर वह किसीके पक्षका हो या किसीका पक्षपात करे तो यह अुनका दोष माना जाता है।

अिसके बदले अगर हम अैसी कोअी अदालत कायम करें, जिसमें सभी वादी-प्रतिवादियोंको अपने-अपने वकील नियुक्त करनेकी सुविधा हो और अुन वकीलों पर अपने अपने मुवक्किलोंका ही हित साधनेकी जिम्मेदारी होते हुअे भी वे बहुमतसे जो निर्णय दें वही अन्तिम फैसला माना जाय, तो न्याय कैसा होगा? स्पष्ट है कि अगर वादी और प्रतिवादी अेक अेक ही हों, तो (जैसा कि पंजाब और बंगालके पत्र-बटवारेमें हुआ) अधिक अंशमें गतिरोध ही खड़ा होगा, और अगर अुनकी तादाद कम-ज्यादा हो, तो जिस पक्षकी तादाद बढ़ जायगी अुसके पक्षमें फैसला होगा। फिर गतिरोध मिटानेके लिये किसी तीसरे रैडक्लिफका सरपंच नियुक्त करना पड़ेगा और अगर वह गलत न्याय करे तो भी सबको अुसे कबूल करना होगा।

अैसी न्याय-पद्धति हानिकारक होती है, अिसे स्वीकार करनेमें किसीको देर नहीं लगेगी। मगर विचार करने पर मालूम होगा कि हमारी सभी प्रतिनिधि-सभायें अलग अलग पक्षोंके वकीलोंकी सभायें ही होती हैं, निष्पक्ष न्यायाधीशोंकी बैठकें नहीं। क्योंकि प्रतिनिधि भेजनेवालोंसे हम यही कहते हैं कि हरअेक मतदाता अपने आदमीको मत दे, यह नहीं कहते कि सब मिलकर लगभग सर्वमान्य या लगभग किसीको अमान्य न हो अैसे ही निष्पक्ष, चरित्रवान और व्यवहार-कुशल आदमियोंको पसन्द करें। अिससे जो प्रतिनिधि चुने जाते हैं वे सबके पंच नहीं होते, बल्कि अेक या दूसरे पक्षके वकील ही होते हैं, और पक्षोंके नियमोंके मुताबिक अुन पर अपने पक्षके खिलाफ कोअी भी निर्णय (मत) न देनेकी जिम्मेदारी डाल दी जाती है। अैसी सभा कानून वगैराके जो निर्णय करे, वे वकीली अदालतके निर्णयों जैसे माने जा सकते हैं, न्यायालयके निर्णयों जैसे नहीं। क्योंकि अिन प्रतिनिधियोंको अपने पक्षको छोड़-

नेकी जरा भी स्वतत्रता नही होती। ये अध्यक्ष हो चाहे मत्री, अपने पक्षके बन्धनोसे कभी छूट नही सकते।

अैसी हालतमें भी अगर स्थिर सुराज्य कुछ हद तक चल सकता है, तो अुसका कारण 'डेमॉक्रेसी' नही बल्कि यह सत्य है कि मनुष्य अपनी मनुष्यताको पूरी तरहसे छोड नही सकता।

जिस तरह बडे मुकदमोमें अलग अलग पक्षोको अपने अपने वकील नियुक्त करनेकी सुविधा होती है, मगर फैसला करनेवाले न्यायाधीश अलग ही होते हैं, और वकील-मडलको कोअी अदालत नही कहता बल्कि न्यायाधीश ही अदालत माने जाते हैं, अुसी तरह राजसभामें प्रजाके अलग अलग पक्षो या हितोंके प्रतिनिधियोंकी निवेदक-सभा भले हो, परतु किसी सर्वमान्य पद्धतिसे नियुक्त की हुअी निष्पक्ष, व्यवहार-कुशल और चरित्रवान व्यक्तियोंकी निर्णायक-सभा अलग होनी चाहिये। मतदाताओंने कहना चाहिये कि अपने आदमियोंको चुननेके बाद वे अपने पक्षसे बाहरके (वे दूसरे पक्षके हो, या किसी भी पक्षके न हो) लोगोमें से जिन्हें निष्पक्ष, न्यायी, व्यवहार-कुशल और चरित्रवान समझते हो अुन्हें मत दें, और अन्तिम निर्णय करने और अुन पर अमल करनेकी सत्ता अिन्ही लोगोंके हाथोंमें रहे। यानी यह सभा पहली सभासे छोटी ही रहेगी।

पक्षोंके प्रतिनिधियोंके बहुमतसे नही बल्कि निष्पक्ष पचोंके भारी बहुमतसे ही सुराज्य कायम कर सकना ज्यादा सम्भव है। अिसलिअे निष्पक्ष पच नियुक्त करनेकी कोअी प्रथा निर्माण की जानी चाहिये।

पक्षोंके राज्यको प्रजाका राज्य — डेमॉक्रेसी — कहना 'वदतो व्याघात' जैसा है। प्रजा द्वारा मान्य किया हुआ पक्षातीत राज्य डेमॉक्रेसी कहा जाय चाहे न कहा जाय, वह सुराज्य — यानी प्रजाका, प्रजाके लिअे तथा प्रजा द्वारा सचालित राज्य — जरूर होगा।

८-११-'४७

४

सार्वजनिक ओहदे और नौकरियाँ

कनक त्यजि, कामिनी त्यजि, त्यजि धातुका संग।
तुलसी लघु भोजन करि, जीवन मानस रंग॥

मनुष्यको अगर सत्ता या प्रतिष्ठाका लाभ ही मिले, तो भी वह अुसके प्रलोभन और चरित्रको शिथिल करनेके लिअे काफी होता है। फिर यदि अिन लाभोंके साथ अुसे कअी तरहके आर्थिक लाभ और सुख-सुविधायें भी मिलें तब तो कहना ही क्या? जाँच करने पर हम देखेंगे कि हमारी हरअेक चुनी हुअी सभाके सदस्य होनेसे या अूँची नौकरी पानेसे कअी तरहके आर्थिक लाभ और सुख-सुविधायें मिलती हैं। किसी भी सरकारी कमेटीका सदस्य होनेवालेको या बड़े सरकारी अधिकारीको न तो गाठसे पैसे खरचने पड़ते हैं, न असुविधायें भोगनी पड़ती हैं। सौमें अेक दो आदमी ही अैसे होंगे जिनकी व्यक्तिगत आय पहलेसे कुछ घट जाती होगी, पर ज्यादातर लोगोंके लिअे तो यह लाभदायी धंधा ही बनता है। अैसी हालतमें अगर सारी सार्वजनिक संस्थायें गुटबन्दीकी राजनीतिके अखाड़े बनें और शासन-तंत्र रिश्वतखोर और वसीलेवाले लोगोंके हाथमें चला जाय, तो अिसमें आश्चर्य किस बातका?

सार्वजनिक कार्यके साथ सत्ता और प्रतिष्ठा तो रहेगी ही, परन्तु अुसके साथ धन और सुख-सुविधाकी प्राप्ति कठिन होनी चाहिये, वह आसान और आकर्षक तो होनी ही नहीं चाहिये। अैसी संस्कारिता अुत्पन्न होनी चाहिये जिससे अूँचे ओहदेका सम्बन्ध भारी तड़क-भड़क, ठाट-बाट, शृंगार, नाच-नाटक-चाय-खाना-नशेबाजी (कॉकटेल) के समारोहोंके बदले सादगीके साथ हो। अिन ओहदेदारोंका रहन-सहन अिनका और अिनके परिजनोंका आतिथ्य करनेवालोंके लिअे सादे जीवनका नमूना और भार-रहित होना चाहिये, वह आडम्बर बढ़ानेवाला, दौड़धूप

करानेवाला और खर्चीला न बनना चाहिये। अुनके घर अैसे होने चाहिये जो अुनके मित्रो तथा सगे-सबधियोको भी सुविधाजा और भोग-विलास-के कारण आकर्षक न मालूम हो। कोअी चार सौ या पाच सौ रुपये माहवारकी आमदनी पर गुजर करनेवाला तथा बाल-बच्चोवाला मध्यम श्रेणीका गृहस्थ शहरमे जिस दरजेका जीवन बिता सकता है, अुससे किसी बडेसे बडे अधिकारीके जीवन और रहन-सहनका दरजा भी ज्यादा अूचा नही होना चाहिये। अिसे मध्यमश्रेणीका अेक मापदड कहा जा सकता है। पेशवाअी जमानेके प्रसिद्ध न्यायाधीश रामशास्त्री जैसे विरल पुरुषका दरजा तो अिसे नही ही कहा जा सकता, फिर भी यह मर्यादा निभानेवाले ससारी आदमीका दरजा जरूर है। अुनकी व्यक्तिगत तथा सार्वजनिक सेवासे होनेवाली आमदनी अैसी मर्यादित रहनी चाहिये कि वह जितना ही खर्च निभा सके। जिस अधिकारीका जीवन अिस दरजेसे अूचा जाय अथवा सेवाके दरमियान जिनकी मिल्कियत बढे, अुसके विषयमें यह सन्देह होना सकारण माना जायगा कि अुसे दूसरी कोअी आमदनी होती होगी। अगर यह आमदनी वस्तुओंकी व्यक्तिगत भेंटके बढनेसे होनेवाली खर्चकी बचतके कारण हो, तब भी अुसे अनुचित ही समझना चाहिये। राष्ट्रमें अुनका चाहे जितना अूचा दरजा हो, परन्तु अुनके जीवनका दरजा अेक मध्यम मर्यादासे अूपर नही जाना चाहिये। सरकारी अधिकारियोकी अुच्चतम आमदनी तथा मिल्कियतकी अुच्चतम मर्यादा राष्ट्रके लिअे व्यक्तिगत आमदनी तथा मिल्कियतकी सामान्य रूपमे ठहराअी हुअी अुच्चतम मर्यादासे नीची होनी चाहिये। साथ ही अैसी परम्परा कायम होनी चाहिये कि जिसकी व्यक्तिगत मिल्कियत तथा आमदनी पहलेसे ही अिस अुच्चतम मर्यादासे ज्यादा हो, वह बिना वेतन लिये सेवा करना अपना फर्ज समझे।

ओस्ट अिण्डिया कम्पनीके जमानेसे [illegible] आज तक 'भत्ता' आमदनीका अेक बडा साधन बना हुआ है। अधिकारियोने कुछ भी खर्च न किया हो, बल्कि प्रजाने ही खर्च किया हो तो भी ठहरायी हुअी दरसे 'भत्ता' लेनेमें किसीको अप्रामाणिकता नही मालूम होती। और सरकारके हिसाबी विभागोने भी हिसाब जांचनेमें [illegible]

अिस खयालसे निश्चित दरसे कम भत्ता न देनेकी प्रथा डाल दी है। अगर दिल्लीकी लोकसभामें जानेके लिअे पहले दरजेका किराया और तीस रुपये प्रतिदिनका भत्ता ठहराया गया हो, तो हरअेक सदस्यको यह रुपया लेना ही होगा, भले अिस हिसावसे अुसका खर्च हुआ हो चाहे न हुआ हो। अगर किसी सदस्यको अिसमें से व्यक्तिगत लाभ न लेना हो, तो वह अिस वचतका दूसरी जगह भले दान कर दे, मगर सरकारी तिजोरीमें तो अितना वाअुचर अवश्य ही कटेगा। अिसका मतलव यह हुआ कि भाडे-भत्तेके नाम पर अैसे व्यक्तिको व्यक्तिगत आय वढानेका मौका दिया जाता है। जिस तरह किसी कामका १०० रुपयेका ठेका देने पर ठेकेदारको अिस वातकी छूट होती है कि वह अपनी होशियारीसे कामका खर्च वचाकर जितनी कमाअी करना चाहे अुतनी कर सकता है, अुसी तरह ओहदेदार मानो देशकी सेवा करनेवाले ठेकेदार हो और अुन्हे अपनी तनखाह, भत्ते और किरायेमे से होशियारी और किफायतशारीसे वचत करके कमाअी करनेकी छूट हो!

अिस प्रथाका परिणाम सुराज्य नही हो सकता, भले अिसमें दस-पाच अत्यत त्यागी और निःस्पृह व्यक्ति अकस्मात आ गये हो। दूसरे ओहदेदार अैसे व्यक्तियोको आदर्श या आदरणीय माननेके वजाय अुनकी हसी अुडाते हैं और निरादर करते हैं।

हमारी जाति, भाषा और सप्रदाय पर रची हुअी समाज-व्यवस्थाका अेक वडा हानिकारक परिणाम सार्वजनिक नौकरियो और ओहदोमे 'वर्ग-प्रतिशत-विवाद' के रूपमें दिखाअी देता है। महत्त्वकी नौकरियो और ओहदोका अमुक प्रतिशत भाग हर वर्गको मिलना चाहिये, यह आग्रह सुराज्य कायम करनेमें वाधक है। मगर अेक लम्बे अरसेसे हमारे समाजका गठन ही अैसा हो गया है कि अगर अिस भाग पर विलकुल विचार न करें तो अमुक वर्गके कुछ भागको वडी जवावदारी अुठानेका मौका ही नही मिल सके और कुछ जगहे अमुक वर्गके अिजारेकी ही वन जाये। यह वात ध्यानमें रखनी चाहिये कि अैसे परिणाम अुत्पन्न होनेसे ही ये मागें भी पैदा होने लगी है।

अैसे कुछ दूसरे भी हलकारे, हमाल वगैराकी नौकरियोंके स्थान अमुक वर्गके जिजारे जैसे होंगे, मगर अुनके लिअे दूसरे वर्गवाले 'प्रतिशत' की आवाज नहीं अुठाते।

रूपमें जिजारे हिन्दू समाज-व्यवस्था द्वारा स्वयं निर्माण किये हुअे अत्यजों — भंगियों — के लिजे सुरक्षित (?) हैं। अेक मतके अनुसार अत्यज प्रतिलोम वर्णसंकरतामें (अूंची जातिकी स्त्रीके नीची जातिके पुरुषके साथ हुअे विवाहसे) अुत्पन्न हुअी प्रजा है। अंग्रेजोंने भी यहां आकर वर्णसंकर प्रजा निर्माण की और हिन्दुओंके जैसे ही अूंचेपनके अभिमानसे अुन्हें अपने समाजके अत्यज माना। यह अेंग्लो-अिण्डियन प्रजा कहलाअी। हिन्दुओंकी तरह अंग्रेजोंने अिनके लिअे कुछ नौकरियां सुरक्षित कर दीं। अंग्रेजोंमें अिनका स्थान अछूतों जैसा ही है। पर वे चाहे जैसे अत्यज हों, फिर भी राज्य करनेवाली प्रजाके अन्त्यज हैं, अिसलिअे अुनकी खास नौकरियां अैसी जरूर हैं जिनके लिअे कुलाभिमानी वर्गोंके मुंहमें भी पानी छूटे! अिसलिअे भंगीका जिजारा जिस तरह सुरक्षित रहा अुसी तरह अुनका अिजारा सुरक्षित नहीं रह पाया, और अब तो वह खतम ही हो गया है। अगर भंगीकी नौकरी करनेवालेको मासिक चार सौ रुपयों तककी तनखाह, प्रति कुटुंब तीनसे छह कमरोंका ब्लॉक, खास पोशाक (यूनीफॉर्म) और प्रजासे सफाओके नियमोंका पालन करानेके लिअे कुछ अधिकार दिये जायं, तो अिस धन्धेके बारेमें भी 'प्रतिशत'का सवाल अुठ खड़ा हो!

अेक दूसरी व्यावहारिक दृष्टिसे भी यह प्रश्न विचारने लायक है। प्रजाके अर्थ-तन्त्रसे सम्बन्ध रखनेवाले अलग अलग विषयों पर ज्यों ज्यों ध्यान जाता है और अुनका खास अभ्यास और काम करनेवाले लोग पैदा होते जाते हैं, त्यों त्यों अेक अेक विषय अेक अेक अलग अलग विभाग बनता जाता है और अुनके लिअे गांवसे शुरू करके अखिल भारतीय सरकारी तन्त्र खड़ा करना पड़ता है। अैसे हरअेक विभागके लिअे अखिल भारतीय, प्रान्तीय वगैरा खास अधिकारी नियुक्त करनेकी जरूरत पड़ती है। आज अधिकार और वेतनका जैसा मेल है, अुसके परिणाम-स्वरूप अेक विभाग खड़ा करनेमें खर्चका आंकड़ा अितना बढ़

जाता है कि सिरसे पगडी भारी हो जाती है, और ज्यादातर सिर्फ पत्रव्यवहार, फाअिलें, कमेटीकी बैठकें, प्रस्ताव और वाअुचरोंके कागज ही बढते हैं, कामकी प्रत्यक्ष प्रगतिमे ज्यादा तेजी नही आती। परन्तु यह सब किये विना भी नही चलता। अिसकी अुपयोगिता और जरूरत भी रहती है। और, जैसे जैसे प्रजाकीय प्रवृत्तिया बढती जायेंगी, वैसे वैसे अिस प्रकारके सैकडो विभाग बनते जायेंगे। अिस कामको अगर बडे अधिकारके साथ बडी तनखाह, बडा बगला वगैरा द्वारा ही पूरा करना आवश्यक हो, तो हम समाजवादकी चाहे जितनी बातें करे, हमारे देशमें विषमता, भूख, गरीबी, बेकारी और अुनके परिणाम-स्वरूप पैदा होनेवाले नये नये रोग, रिश्वतखोरी, कालाबाजार, लूटमार, चोरी तथा किसी न किसी बहाने छुरेबाजी, दगे, आपसी युद्ध (सिविल वार) वगैरा चले विना नही रहेंगे, और अधिकारियोंकी नियुक्तियोंमें कुशलताकी नही बल्कि पक्ष, सिफारिश, जातपात वगैराकी ही मुख्यता रहेगी। यह वैसी ही बात है जैसे अनाजकी तगी कम करनेके लिअे कोअी दूध-घी, पेडे-बरफी, अनार-मोसम्बी खाकर अकालका सामना करनेके लिअे कहे। और आज सचमुच ही अैसी सलाह दी जाती है यह अिसका प्रमाण है।

बलाअिवके जमानेसे ही सार्वजनिक नौकरियोंमें रिश्वत वगैराकी बुराअिया दूर करनेके अुपायों पर विचार किया जाता रहा है। फिर भी ये बुराअिया कम नही हुअी, अुलटे बढती ही रही। अिसका कारण यह है कि अिसके अुपाय अिस मान्यता पर रचे गये है कि आगमे भरपूर घी डालनेसे अुसकी भूख तृप्त हो जायगी या अिन्द्रियोंको भरपूर विषय-सेवन मिलनेसे वे शान्त हो जायगी। या फिर लोगोंका यह खयाल है कि जिन्दगीभर चूहे मारनेके बाद ढलती अुम्रमे तीर्थ करनेके लिअे निकलनेवाली या बच्चोंको निरामिष भोजनका अुपदेश देनेवाली बिल्लीकी तरह केवल अुपदेश दे देनेसे ही यह काम हो जायगा। मान लीजिये, अेक बनिया व्यापारीके यहा बनिया ही मुनीम है, व्यापारी सटोरिया है और सट्टेके सौदे अिस मुनीमके मारफत ही होते हैं। मुनीम हर दिन देखता है कि बाजारसे जो भाव सुन-

सुनकर वह सेठके पास पहुंचाता है, अुस परसे खरीद-बिक्री करके सेठ लखपती बनता है। मुनीम भी सेठका ही जातिभाअी है। अुसकी रगोंमें भी वही खून बहता है। अुसके मनमें यह भावना क्यों न पैदा होगी कि थोडा सट्टा करके मैं भी तेजीसे रुपया बनाअू? मगर नसीब अुसका साथ नहीं देता और वह नुकसानमें पड जाता है। वह सेठके पैसे अुठा लेता है, और सेठ मुनीमके असन्तोष और अप्रामाणिकता पर तिरस्कारभरा प्रवचन करता है! अब सोचिये कि मुनीमके दिल पर अिस प्रवचन अथवा अुपदेशका कितना असर पडेगा? यही हाल रिश्वतकी बुराअी दूर करनेकी कोशिश करनेवालोंका है। वे तीन तरहके अुपाय काममें लाते हैं अेक तो सजाके कानूनोंको और भी कठोर बनानेका, दूसरा, फाजिलबाजी तथा जासूसीका जाल बिछाकर सरकारी अधिकारियों पर निगरानी रखनेका, और तीसरा, तनखाह, भत्ता वगैरा बढाकर अुन्हें सन्तुष्ट करनेका।

मगर कायदे जितने ही सख्त होते हैं, अुन्हें निष्फल करनेके अुतने ही रास्ते भी निकल आते हैं, अुसके बाद पुलिस और मजिस्ट्रेट द्वारा रिश्वत वगैराके कानूनों पर अमल करवाना वैसा ही है, जैसे दुहरा अपराध करनेवाले कैदी द्वारा किये गये जेलके किसी कसूरका न्याय अैसे ही कैदियोंकी पञ्चायतसे करवाना।

दूसरा अुपाय अितना खर्चीला, अितना ढीला, अितना शिथिलता बढानेवाला और प्रजाके लिअे अितना असुविधाजनक है कि प्रजा खुद ही रिश्वतको प्रोत्साहन देने लगती है। अगर चार आनेकी रिश्वत देनेसे कोअी काम पांच मिनटमें हो सकता है और ये चार आने बचानेसे पांच महीने तक रोजाना चक्कर काटनेसे भी कोअी सुनवाअी नहीं होती और फाजिलबाजी बढती ही जाती है, डाकखर्च भी बढता है, तब साधारण प्रजा रिश्वतका रास्ता न ले तो क्या करे? चार आनेकी रिश्वत अगर पांच मिनटमें काम करा सकती है, तो अिसका मतलब यह हुआ कि ज्यादा फाजिलबाजी अनावश्यक ही होती है। परन्तु कानून अुसे बढानेकी सुविधायें देता है, और अधिकारी जान-बूझकर अपनी सत्ताका अुपयोग नहीं करते।

तीसरा अुपाय तो घी डालकर आग बुझानेकी कोशिश करने जैसा है। अुसमें भी खूबी यह है कि यह अुपाय सबसे छोटे और सबसे बड़े नौकरके बीचका अन्तर आर्थिक रूपमें बढ़ाता ही रहता है। मान लीजिये कि अधिकारियोंकी तनखाह वर्गोंमें अुचित वृद्धि करनेसे अुनका गलत रास्ते कमानेका लोभ कम होगा, अिस मान्यताके साथ अुनकी तनखाहें नीचे दिये अनुसार बढ़ा दी जाती हैं

ग्रेड	मूल वेतन	वृद्धि प्रतिशत	नया अंतिम वेतन	पुराना फर्क	नया फर्क
१	५० तक	२०	६०	—	—
२	५१–२००	१५	२३०	१५०	१८०
३	२०१–१०००	१०	११००	८००	८७०
४	१००१–३०००	५	३१५०	२०००	१९५०
५	३००१–६०००	२	६१२०	३०००	२९७०

अिसमें अूपरसे तो जान पड़ता है कि ज्यों ज्यों ग्रेड बढ़ता जाता है, त्यों त्यों वृद्धिका प्रतिशत तेजीसे घटता जाता है, मगर हर-अेक ग्रेडके आखिरी आदमीकी और अुनके बादके ग्रेडके आखिरी आदमीकी आमदनीके बीचके पुराने और नये फर्ककी जांच करें, तो पता चलता है कि बिलकुल अन्तिम दो ग्रेडोंमें ही दो ग्रेडके आदमियोंकी आमदनीका फर्क थोड़ा कम हुआ है। यह तो अेक काल्पनिक अुदाहरण है। वास्तवमें ज्यों ज्यों ग्रेड बढ़ता जाता है, त्यों त्यों अेक या दूसरे भत्तेके रूपमें आमदनीका सच्चा आंकड़ा हरअेक सुधारके साथ बढ़ता ही जाता है। अूंचे ग्रेडके अधिकारियोंको बहुत बार दो-तीन विभागोंके अधिकार सौंप दिये जाते हैं। अुस समय अुन्हें अुनके ग्रेडके वेतनके अलावा विभाग-वार खास भत्ते भी मिलते हैं। अुदाहरण के लिअे, सिविल सर्जन अगर जेल-सुपरिण्टेण्डेंट भी हो, डॉक्टरोंके अिन्सपेक्टर जनरलको जेलोंका बड़ा अधिकारी भी बना दिया जाय, तो अुसे अपने वेतनके अलावा दूसरे पदोंके खास भत्ते भी मिलते हैं। अगर अैसी मान्यता न हो कि सारे काम अर्थके विनिमयसे ही कराने चाहियें, तो अिस बातको समझना ही कठिन हो जाय। अिकरारके कानूनका यह सिद्धान्त है कि बदले

(consideration) के बिना अिकरार रद माना जाता है, अिसी तरह भत्तेके बिना अधिकार रद माना जाता है। अिसलिअे चीफ सेक्रेटरी अगर चार दिनोंके लिअे गवर्नरका ओहदा सम्भाले, तो अुन चार दिनोंके लिअे अुन्हें खास भत्ता देना चाहिये। जैसे अिन चार दिनोंमें अुसे पैसा अधिक खर्च करना पड़ेगा। अधिकार और वेतन-भत्तेके सम्बन्धकी कल्पना 'जीव और स्वामकी सगाओी' की तरह की गयी है। अिस कल्पनासे छूटना जरूरी है और यह सिर्फ नियम बदलनेका सवाल नहीं है, बल्कि पुरानी परम्परायें बदलनेका और चरित्र-वृद्धिका सवाल है।

१२-११-'४७

चौथा भाग : तालीम

१

सिद्धान्तोका निश्चय

स्पष्ट है कि क्रान्तिका विषय अन्तमें तालीमके साथ जुडा हुआ है। प्रजाके धार्मिक विचार, सामाजिक आचार-विचार, भाषा-साहित्य-कला-धनसे सम्बन्ध रखनेवाला पुरुषार्थ, राजनीतिक सस्थाये या और किसी बातको लें, हरअेकके अुद्देश्योके अनुसार प्रजाकी व्यवस्थित तालीमकी योजना की जानी चाहिये। तालीममे चाहे केवल लेखन-वाचन और गणितका ही समावेश किया जाय, तो भी अुसमे भाषा और लिपिका निश्चय पहले होना चाहिये। भाषा यानी सीखनेवालेकी घरकी भाषा (मातृभाषा या स्वभाषा) को ले और अुसीका आग्रह रखे, तो अुसमें भी अनेक कठिनाअिया खडी होती है। हर प्रान्तमें बोलचाल यानी व्यवहारकी अनेक भाषाओ (बोलियो) का और साहित्यिक यानी शिक्षणकी भाषाका भेद करना ही पडता है। दूरके अेकाध छोटेसे शहरमे भी दो चार गुजराती, दो चार मारवाडी, दो चार अुत्तर भारतके विविध प्रादेशिक बोलिया बोलनेवाले, दो चार दक्षिण भारतकी कोअी भाषा बोलनेवाले, और दो चार मराठी-भाषी परिवारोका होना असम्भव नही है। और यह भी सम्भव है कि शहरकी सामान्य जनताकी बोली कोअी साहित्यिक भाषा न हो (जैसे मालवा या निमाड — खडवा, बुरहानपुर वगैरा या गया, भागलपुर वगैरामे देखा जाता है)। मारवाडी, कोकणी वगैरा कुछ भाषाये आज अैसी बीचकी स्थितिमे है कि अुन्हें साहित्यिक भाषाओमे स्थान देना चाहिये या नही, अिस सम्बन्धमें जबरदस्त खीचतान मची हुअी है।

फिर, विविध भाषाओको अलग अलग लिपियोके साथ जोड दिया गया है। भले ही लिखना-पढना जाननेवाले सौ पीछे आठ-दस आदमी

ही हो और यहीं पढ़ी ना जिनने भी नहीं होंगे, फिर भी जो थोड़ेसे लोग लिख-पढ़ सकते हैं अुन्हें निज लिपिका ज्ञान और ममत्व है, तथा निज लिपिका साहित्य अुनके पास संगृहीत है, वही लिपि अुस भाषाके साथ जोड़ दी जाती है।

जिस तरह हम सिर्फ अक्षर-ज्ञान और अंकज्ञानको ही तालीम समझ लें, तो भी अुद्देश्यके निश्चयके बिना अुसकी योजना नहीं की जा सकती। किस भाषा और किस लिपिका ज्ञान देना है, अिसका निर्णय किये बिना यह नहीं हो सकता। फिर अगर जीवनके विविध पहलुओं पर विचार करें, तो जीवनका अेक भी विषय अैसा नहीं है जो तालीमके क्षेत्रमें न आता हो। जिस तरह तालीमका प्रश्न अुतना ही विशाल बन जाता है जितना विशाल हमारा जीवन है। अिस सम्बन्धमें अैसा तो होगा ही कि अनेक विषयों पर सब अेकमत न हों, कुछ बातोंमें निश्चयके साथ यह कहते न बने कि अेक यही दृष्टि सत्य है और बाकी सब गलत हैं, कुछ बातोंमें दो परस्पर-विरोधी मालूम होनेवाले विचारोंमें से हरअेकमें सचाअीका अंश हो और किस बातकी कितनी मर्यादा समझी जाय यही महत्त्वका सवाल हो, कुछ विषयोंका महत्त्व स्थानीय हो और मर्यादित समयके लिअे ही हो, फिर भी अुनके स्थान और समयमें अुनकी अवगणना न की जा सकती हो, और कुछ बातें लोगोंके राग-द्वेषके साथ अितनी ज्यादा जुड़ी हों कि अुनके सम्बन्धमें बुद्धिका प्रवाह औंधे घड़े पर डाले गये पानीकी तरह बह जाता हो। जिससे नेताओंमें भी मतभेद रहेंगे। अिसलिअे सबको सन्तोष देनेवाली तालीमकी योजना या पद्धति रची गढ़ी जा सके जिसकी बहुत कम सम्भावना रहेगी। फिर भी अधिकसे अधिक राग-द्वेष या ममत्वके बावजूद जिस तरह ५×३ = १५का स्वीकार करना ही पड़ता है, जिसमें १४ या १६के लिअे गुंजाअिश नहीं रहती, अुसी तरह अगर हम विवेक-बुद्धिका निरादर न करें तो कुछ महासिद्धान्त हमें सर्वमान्य होने जैसे लगने चाहिये।

ये सिद्धान्त अिस प्रकार हैं

१ मनुष्यसे मनुष्यको अलग करनेवाले कारण कुदरती हो या मनुष्यके बनाये हुअे हो, टाले जा सकने लायक हो या न टाले जा सकने लायक हो, तालीमका सिद्धान्त अथवा अुत्तम जीवनका सिद्धान्त यह होना चाहिये कि अिन कारणो तथा भेदोको ज्यादा जड और मजबूत बनानेकी अपेक्षा निर्बल बनाया जाय। जीवनकी अनेक बातोके लिअे मनुष्यमे 'अस्मिता' 'अभिमान, 'ममत्व' वगैरा तो रहेगे ही, परतु शिक्षणशास्त्रीका प्रयत्न अिन्हे सकुचित क्षेत्रमे रुध रखने और मजबूत करनेके बजाय अिनका क्षेत्र भरसक विशाल बनानेका और अुनकी पकड ढीली करनेका होना चाहिये।

२ भूतकालको जैसेका तैसा या कुछ बदले हुअे रूपमे फिरसे जिलाना जीवनका ध्येय नही होना चाहिये। अुसी तरह तालीमका प्रयत्न द्वेषबुद्धिसे भूतकालके किसी भागकी याददाश्त या निशानीको मटियामेट करना भी नही होना चाहिये। अुसे तो भविष्यके नये अुज्ज्वल चित्र निर्माण करके ध्येयके रूपमें अुन्हे प्रजाके सामने रखनेकी कोशिश करनी चाहिये। यह मान्यता अनेक भ्रमपूर्ण मान्यताओ जैसी ही है कि किसी समय मानव-जातिका बहुत बडा भाग सुख-शान्ति और अुच्च नैतिक युगमें रहता था, या किसी प्रजाके बहुत बडे भागने कभी रामराज्य या धर्मराज्यका सचमुच अनुभव किया था। भविष्यमे सचमुच किसी विशाल क्षेत्रमे रामराज्य या धर्मराज्य कायम किया जा सकेगा या नही, यह न कह सके तो भी मानव-जीवनका अुत्कर्ष अुस दिशामे प्रयत्न करनेमे ही है। यह ध्यानमे रखना चाहिये कि अिस राम-राज्य या धर्मराज्यका चित्र रामायण या महाभारतके आधार पर चित्रित नही किया जा सकता। अुसका आदर्श हमे अपनी ही सत्य, शिव, सुन्दरकी श्रेष्ठ कल्पनाओके आधार पर निर्माण करना है। अिस विषयमे अगले परिच्छेदमे थोडी चर्चा की गयी है।

३ अनेक जगहो पर मै कह चुका हू कि मनुष्य सिर्फ प्राकृत (प्रकृति — कुदरतकी गोदमें रहनेवाला) प्राणी नही है। वह प्राकृत, सस्कृत तथा विकृत यो तीन तरहका प्राणी है और रहेगा। अुसका हरअेक पुरुषार्थ प्रकृतिको बदलता है, और हरअेक पुरुषार्थसे कुछ

सस्कृति और कुछ विकृति दोनोका निर्माण होता है। चारो पुरुषार्थोमें से अेक भी पुरुषार्थ या अेक भी पुरुषार्थमें से कृत्रिम रूपमें (अर्थात् मोहसे जबरदस्ती) पैदा की हुआी निवृत्ति अथवा अुसका सकोच या विकास सस्कृति और अिष्ट परिणाम ही अुत्पन्न करे अथवा विकृति और अनिष्ट परिणाम ही लाये अथवा प्रकृतिसे मनुष्यको बिलकुल अलग कर दे अैसा सभव नहीं है। कुछ पुरुषार्थोका अनिष्ट परिणाम आज न दिखाअी दे तो बादमें मालूम पडता है, यही बात अिष्ट परिणामोके सम्बन्धमें भी कही जा सकती है। अिसलिअे पुरुषार्थ चाहे अध्यात्म-ज्ञानके किसी क्षेत्रका हो, धर्म (यानी प्राकृतिक विज्ञान और मानव-व्यवहारोकी व्यवस्था) से सम्बन्ध रखता हो, अर्थ-सम्बन्धी हो या काम (सुख) सम्बन्धी हो — हरअेक अगर किसी अेक ही दिशामें और अेक ही ढगसे बढे, तो अुसमें से कुछ विकृतिया निर्माण हुअे बिना नही रहती। परन्तु अनिष्ट परिणाम अुत्पन्न होनेसे अगर किसी दिशाके पुरुषार्थको बिलकुल छोड दिया जाय या अुसे अुलटी दिशामें मोड दिया जाय, तो भी कुछ विकृतिया निर्माण होती ही है। अैसी कोअी दिशा नही है जिसे पकडकर कोअी अुसी रास्तेसे आगे बढता चला जाय और अुसे केवल सस्कृति, सुख और अुन्नति ही मिलते रहें। यह भी नही कहा जा सकता कि अमुक दिशाके पुरुषार्थको बिलकुल छोड दिया जा सकता है। जितने समय तक अेक मोटर-चालक गति-नियामक ब्रेक और दिशा बदलनेवाले चक्रको छोडकर बेफिक्रीसे मोटर दौडाते हुअे सलामत रह सकता है, अुतने ही समय तक मानव-पुरुषार्थ भी अेक ही दिशामें बढता रहकर सलामत रह सकता है। शिक्षण-शास्त्रीका कर्तव्य मानव-पुरुषार्थकी दिशा और गतिको बार बार जाचते रहकर अुसे रास्ते पर बनाये रखना और हानियासे बचाना है। दूसरे भागके 'चरित्रके स्थिर और अस्थिर अग' नामक प्रकरणमें मानवके पूर्ण विकासके सम्बन्धमें जो अलग अलग लक्ष्य बतलाये गये है, वे सब मिलकर मानव-पुरुषार्थकी मोटरके ब्रेक, चक्र और चाबिया है। तालीमके द्वारा ये लक्ष्य योग्य मात्रामें सिद्ध होने चाहिये और किस हद तक वे सिद्ध होते है अिसकी जाच करते हुअे अुसके विविध

गति बढानेवाले और रोकनेवाले ब्रेक, चक्र वगैराका अुपयोग करते रहना चाहिये। अैसा किये बिना अेक भी पुरुषार्थ सुरक्षित नही रह सकता।

४ तालीममे भाषा और लिपिका प्रश्न महत्त्वका है। अिसके विषयमें ज्यादा चर्चा अन्य परिच्छेदोमे की गअी है। यहा अिस सम्बन्धमें मैं सिर्फ अितना ही कहना चाहता हू कि भाषा और लिपि शिक्षण या ज्ञान नही हैं, बल्कि अुसके वाहन हैं। तालीम अथवा ज्ञानकी वृद्धिके लिअे सीखनेवालोकी (न कि सिखानेवालोकी) भाषा और जिस लिपिमें अुस भाषाका साहित्य अुपलब्ध हो वह लिपि अच्छेसे अच्छा वाहन बन सकती है। सच पूछा जाय तो मनुष्यकी कोअी कुदरती स्वभाषा (मातृभाषा या पितृभाषा) है ही नही। बचपनमे वह जितनी भाषाओंके बीच पलता-पुसता है, वे सारी भाषायें अुसकी स्वभाषा जैसी हो सकती हैं, और अुनमें से किसी भी भाषाके द्वारा अुसकी तालीम आसानीसे चल सकती है। सम्भव है, अिनमें से अेक भी भाषा अुनके माता-पिताकी भाषा न हो। हमारे विशाल देशमे सच्ची स्थिति तो यह है कि अनेक बच्चे जिस साहित्यिक भाषा द्वारा तालीम लेना प्रारभ करते हैं, वह अुनके घरोमें बोली जानेवाली भाषासे भिन्न ही होती है। विहारका आदमी जो हिन्दी सीखता है अुसे वह घरमें कभी नही बोलता। यही हाल मालवेका है। साहित्यिक मराठी नागपुर या बरारकी जनताकी मराठी नही है। यही बात गुजराती पर लागू होती है। अिसकी अेक निशानी यह है कि शहरके अच्छे विद्वान यदि साहित्यिक भाषामे गावके लोगोसे बातें करते है और स्थानीय भाषा नही जानते, तो वे अेक-दूसरेकी बात पूरी तरहसे समझ नही पाते। अुनके व्याकरण, रूढि-प्रयोग, अुच्चार और शब्द-भडार भी अलग पड जाते हैं। कुछ समानता होनेसे सिर्फ सार समझमे आ जाता है। अिसलिअे बिलकुल स्वभाषा द्वारा तालीम दी जाने पर भी स्वभाषाकी तालीम नही दी जाती, और बहुत बार तो स्वभाषा द्वारा तालीम देना ही असम्भव होता है।

अिसका यह मतलब नही कि स्वभाषा द्वारा दी जानेवाली तालीमका कोअी महत्त्व नही है, या अुसकी माग गलत है। परन्तु

अिसका मतलब यह है कि (१) हमें शिक्षण (यानी अक्षर-ज्ञान अथवा पुस्तकों द्वारा ज्ञानप्राप्ति) और तालीम (यानी मौखिक तथा कर्मों द्वारा ज्ञानप्राप्ति) के बीचका भेद समझना चाहिये। (अिस विषयको नीचे ज्यादा स्पष्ट किया गया है)। (२) शिक्षण (=पुस्तक-ज्ञान) के क्षेत्रमें भाषाओंकी तादाद बढानेका प्रयत्न करना ठीक नहीं है। (३) अगर परदेशमें जाकर पढनेका सवाल न हो, तो स्वभाषा द्वारा शिक्षण लेनेके बजाय बचपनसे लेकर आखिर तक अेक ही भाषा द्वारा शिक्षण लेना ज्यादा महत्त्वपूर्ण है। शिक्षणके माध्यमको बार-बार बदलना अच्छा नहीं। प्राथमिक शिक्षण अेक भाषामें, माध्यमिक दूसरी भाषामें और अुच्च शिक्षण किसी तीसरी ही भाषामें लेना अुचित नहीं है। अिसके बजाय यह ज्यादा अच्छा है कि अपनी भाषा न हो तब भी जिस भाषामें शिक्षण पूरा होना है, अुसी भाषासे शिक्षणकी शुरुआत की जाय। (४) अगर शिक्षणको सार्वत्रिक बनानेकी गति बढे और पूरे प्रान्तको भी किसी प्रचलित बोली या भाषाको भूलनेका प्रसंग आवे तथा शिक्षणके माध्यमके रूपमें निश्चित की हुअी भाषा ही बोलनी पडे, और अगर वह प्रजा राजीखुशीसे अिसे स्वीकार करनेके लिअे तैयार हो जाय, तो अिसमें कोअी दोष नहीं है। (५) कमसे कम अेक प्रान्तमें अेक ही भाषा द्वारा शिक्षण दिया जाना अच्छा है।

लिपि तो सिर्फ अेक सुविधाकी ही चीज है। वह अगर पूर्ण हो यानी अिस तरह लिखी जा सके कि अुच्चारणोंमें गडबडी न हो, तो जो लिपि आसान और सुविधापूर्ण हो वही अच्छी मानी जानी चाहिये। अिस बातसे डरनेकी जरूरत नहीं कि कोअी लिपि दुनियासे लुप्त हो जायगी। दुनियासे अनेक भाषाये और अनेक लिपियां लुप्त हो चुकी हैं, बहुतसे ग्रंथ लुप्त हो गये हैं या अैसे हो गये हैं कि अुन्हें पढा ही नहीं जा सकता। पढ लेने पर भी समझमें न आनेवाला बहुतसा प्राचीन साहित्य है, कितनी ही मानव-जातियोंका सिर्फ नाम ही बचा है — या नाम भी नहीं बचा है। तो फिर भाषा, लिपि और साहित्यके बारेमें क्या कहा जाय? बहुत कम आदमी अैसे होंगे जो अपने पिताके दादासे

पहलेके पूर्वजोंका नामठाम जानते हैं। वे कैसे थे, कहांसे आये थे, कैसी भाषा बोलते थे, क्या पहनते थे — किसी भी बातका अुन्हें पता नहीं है। मध्यकालमें हम गुजराती, महाराष्ट्री, बंगाली, बिहारी वगैरा बने। मगर हमारे पास संस्कृत साहित्य बच गया है, और अुसमें अिस देशके प्राचीन निवासियोंकी बातें हैं। अब हमें अपने सच्चे पूर्वजोंसे ज्यादा ये पौराणिक तथा अैतिहासिक पुरुष तथा जिस भाषामें वे बातें सुरक्षित हैं वह भाषा ही ज्यादा सच्ची लगती है। हरअेक हिन्दूको लगता है कि वह राम, कृष्ण, पांडव, राणा प्रताप या शिवाजीका वंशज है, मुसलमानको लगता है कि वह अरबस्तान और अीरानकी संस्कृतिका प्रतिनिधि है। गुजरातीको लगता है कि वनराज चावडा और सिद्धराज सोलंकीसे अुसका सम्बन्ध है। अिसके सिवा हम जात-पातके भेद भूलनेकी, खूनमें संकरता आवे तो अुसकी अुपेक्षा करनेकी बातें करते हैं; मगर अिस बातकी चिन्ता रखते हैं कि कहीं हमारी भाषामें अरबी, फारसी या अंग्रेजीका मिश्रण न हो जाय। अिसके लिअे आपसमें झगडनेके लिअे भी हम तैयार हैं और पुरानी बातोंको नवजीवन देना चाहते हैं।

कुदरती कारणोंसे या मनुष्य द्वारा मनुष्य पर किये गये अत्याचारोंकी वजहसे भाषा, लिपि वगैराका लोप या संकर हो, अिसके बजाय मनुष्य अेकता और ज्ञानवृद्धिके लिअे जान-बूझकर अैसा होने दे तो वह बुद्धिमानीकी बात होगी। धर्मकी तरह शिक्षा भी मनुष्यको मनुष्यसे अलग करनेवाली नहीं परन्तु अेक करनेवाली होनी चाहिये, वह मनुष्योंको अपने बीचके पूर्वजोंकी याद दिलानेवाली और अुनके प्रति प्रेम पैदा करनेवाली नहीं, बल्कि सबके अेकमात्र पूर्वज अथवा आदिकारण — परमेश्वरका ही स्मरण करानेवाली और अुनके प्रति प्रेम अुत्पन्न करनेवाली होनी चाहिये।

२

भाषाके प्रश्न — अुत्तरार्ध

संस्कृतिकी दृष्टिसे हमने पहले भागमें अिस विषय पर कुछ विचार किया है। यहां मैं अुस पर शिक्षणकी दृष्टिसे ज्यादा विचार करूंगा। अूपर शिक्षण अर्थात् पुस्तकों द्वारा ज्ञानप्राप्ति और तालीम अर्थात वाणी तथा कर्मों द्वारा ज्ञानप्राप्तिके भेदका अुल्लेख किया गया है। वह स्पष्ट है कि शिक्षाका अच्छेसे अच्छा और सफल माध्यम शिक्षण देनेवालेकी भाषा नहीं, बल्कि शिक्षण लेनेवालेकी अपनी भाषा है। वह असंस्कृत, अशुद्ध तथा अनेक भाषाओंके शब्दोंकी खिचड़ी हो, तो भी शिक्षण लेनेवाला अुसे ही ज्यादासे ज्यादा समझ सकता है। अुसके द्वारा दिया जानेवाला ज्ञान प्राथमिक हो या अुच्च हो — भले वह खिचड़ी भाषा द्वारा क्यों न दिया जाय — मगर वह शिक्षण लेनेवालेकी भाषा द्वारा दिया जाना चाहिये।

तालीमकी तुलनामें शिक्षण अर्थात् पुस्तकों द्वारा दिया जानेवाला ज्ञान अेक दृष्टिसे कम कीमतवाला है। मगर आज ज्ञानका अितना बड़ा भंडार पुस्तक-रूपी पेटियोंमें बन्द है कि बहुत बड़ी हद तक अुसने तालीमसे भी ज्यादा महत्त्वका स्थान ले लिया है। भाषा और लिपि अिन पेटियोंको खोलनेवाली चाबियां जैसी हैं। जिनको ये चाबियां प्राप्त हों अुनके लिअे ज्ञानका बहुत बड़ा भंडार खुल जाता है। अिसलिअे बड़े पैमाने पर और बड़ी तेजीसे अक्षर-ज्ञान फैलानेकी जरूरत पैदा हुअी है।

जिस तरह रास्ते पर सार्वजनिक अुपयोगके लिअे लगायी गयी नलकी टोंटी अैसी नहीं होनी चाहिये कि अुसे खोलनेमें बड़ी ताकत, हिकमत या खास तालीमकी जरूरत पड़े, अुसी तरह पुस्तकोंको खोलनेकी चाबियां भी अैसी होनी जरूरी है कि वे यथासंभव सबके लिअे सुलभ हो सकें और अुनके अुपयोगका तरीका सबको तुरन्त समझमें

अगर हम अिस नियमको समझ लें, तो हिन्दी, अुर्दू, हिन्दुस्तानी वगैराके विवाद कम हो जाय और भाषाका विकास किसी खास प्राचीन वाणी-से ही करनेका गलत आग्रह दूर हो जाय। तब हम साधारणतः 'सोना' शब्द भी बोलेंगे और खास जगह पर 'स्वर्ण' या 'हिरण्य' जैसा शब्द भी काममें लेंगे, रसायनविद्यामें 'फेरम' शब्द और 'fe' संज्ञाका भी अुपयोग करेंगे। अेल्युमिनियम या निकलके लिअे नये शब्द गढ़नेकी जरूरत नहीं समझेंगे। अेक ओर अगर 'मॉरगेज' शब्द काममें आते है, तो मॉरगेजर, मॉरगेजी भी लेने ही चाहिये अैसा आग्रह नहीं रखेंगे। कन्ट्राक्टर शब्दका अुपयोग करते है, अिसलिअे अिकरार और अिकरारनामा शब्द छोड देने चाहिये और कन्ट्राक्ट और कन्ट्राक्ट-डीड ही कहना चाहिये अैसा भी हम आग्रह नहीं करेंगे। 'सिग्नेचर' के लिअे सही या हस्ताक्षर शब्दका अिस्तेमाल करना सुननेवालेकी सुविधा पर निर्भर रहेगा, और हस्ताक्षरका अुपयोग किया अिसलिअे 'साअिन्ड' का हस्ताक्षरित या 'सिग्नेटरी' का हस्ताक्षरकर्ता करना जरूरी नहीं होगा, और 'सही किया हुआ', 'सही करनेवाला' शब्द त्याज्य नहीं बनेंगे।

(ग) पुस्तककी भाषाके सम्बन्धमें अनेक स्थानीय बोलियां और शब्दोंकी अपेक्षा व्यवहारमें आअी हुअी व्याकरण-शुद्ध भाषा और ज्यादासे ज्यादा प्रचलित शब्द काममें लेने चाहिये। मौखिक व्याख्यानमें सुनने-वालेकी सुविधाको ज्यादा महत्त्व दिया जाय, परन्तु पुस्तकीय लेखनमें लेखक, पाठक और पुस्तकका विषय तीनोंकी परस्पर सुविधाका खयाल रखना जरूरी है। लेखक अगर अपनी ही सुविधा और सतोषकी दृष्टिसे लिखे, तो जिसे गरज होगी वही अुसकी पुस्तक पढ़ेगा। मगर लेखक पाठकके लाभके लिअे और पुस्तकके विषयको अच्छेसे अच्छे ढंगसे पेश करनेके लिअे लिखता है, अिसलिअे अुसे भाषाकी योजनामें काफी छूट और स्वतंत्रता भी लेनी होगी। परन्तु साथ ही तालीमके क्षेत्रमें आनेवाली और अुसके लिअे ही लिखी गअी पुस्तकोंमें भाषाकी अिस प्रकारकी योजना तालीम लेनेवालेके लिअे सर्वोत्तम माध्यम हो सकती हो वैसी ही होनी चाहिये। अिसमें अैसा नहीं हो सकता कि तालीम लेनेवालेको भाषा समझनेमें कुछ भी मेहनत न अुठानी पड़े।

परन्तु वह योजना अैसी भी नही होनी चाहिये कि भाषा समझने पर ही अुसे बहुत ध्यान देना पडे। अिसमें अिस बातका भी खयाल रखा जाय कि तालीमका विषय कितना सार्वजनिक है। अुदाहरणके लिअे, खेती, ग्रामोद्योग, व्यापार, स्वच्छता वगैराकी व्यावहारिक तालीमका अेक ओर तो स्थानीय महत्त्व है और दूसरी ओर वह समूचे देश या पूरी दुनियाके जैसी व्यापक है। डॉक्टरी विद्याये, विज्ञानकी विविध शाखाये, बडे बडे अुद्योग और अुनसे सम्बन्वित विद्याये वगैरा जगद्-व्यापी विषय है। सामान्य राजनीति, अर्थशास्त्र वगैरा विषय राष्ट्रीय महत्त्वके कहे जा सकते है। संस्कृत, फारसी, अरबी, द्राविडी वगैरा भाषाओका प्रान्तो तथा पूरे हिन्दुस्तान और अेशियाके अधिकाश भागकी भाषाओके साथका सम्बन्ध मूल तत्त्व और अुनमें से निकले हुअे विविध रसायनो जैसा माना जायगा, अंग्रेजी तथा विज्ञानके आन्तर-राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्द अिन भाषाओमें अूपरसे पडे हुअे मसालो जैसे माने जायगे। हिन्दुस्तानकी प्रान्तीय भाषाये अिन सभी भाषाओसे पोषित है। यह विषय बहुत महत्त्वका नही है कि किस भाषाके कितने प्रति-शत शब्द है। किसी भाषाके चाहे पाच प्रतिशत शब्द भी न हों, फिर भी जिस तरह क्षार और विटामिनके तत्त्व शरीरके स्वास्थ्य और गठनमें बहुत महत्त्वपूर्ण भाग अदा करते है, वैसे ही अिन भाषाओका भी महत्त्व हो सकता है। अिसलिअे अिन भाषाओकी ओर अिस तरह देखना अनुचित है कि वे कोअी रोग पैदा करनेवाले जहर है या हमें भ्रष्ट करनेके लिअे आअी है।

अिन सारी दृष्टियोंसे विचार करने पर मुझे लगता है कि (१) प्राथमिकसे लेकर अुच्च तालीम तकके मौखिक शिक्षणमें जहा तक हो सके स्थानीय भाषाका ही अुपयोग होना चाहिये, फिर भले अुससे सम्बधित पाठ्य-पुस्तके अुस भाषामें न हो और भले विशिष्ट परिस्थितिमें अपवादरूपसे किसी अध्यापकको हिन्दुस्तानीमें सिखानेकी छूट हो, (२) प्रान्तीय महत्त्वके विषयोकी पुस्तके और शुरुआतकी पुस्तके प्रान्तकी साहित्यिक भाषामें लिखी जाय, (३) आन्तर-प्रान्तीय महत्त्वके विषयोका लेखन हिन्दुस्तानीमें हो और यथासम्भव प्रान्तीय भाषाओमें

भी हो। अंग्रेजी भाषाकी पुस्तकोंका अुपयोग आपद्धर्मरूप माना जाय, और जैसे बने वैसे अुसे कम करनेकी तरफ झुकाव हो, (४) आन्तर-राष्ट्रीय महत्त्वके विषयोंके लिअे अंग्रेजी पुस्तकोंका अुपयोग तथा लेखन हो, और (५) अन्तिम परन्तु महत्त्वकी बात यह है कि बोलने या लिखनेकी भाषा चाहे जो हो, मगर सारी भाषाओं अपने अुन शब्दोंको निकालकर नये शब्द बनानेका यत्न न करें, जो अुनमें प्रचलित हो गये हैं, भले वे किसी भी भाषासे क्यों न आये हों। पारिभाषिक शब्द अगर पाश्चात्य विद्याओं, कलाओं और संस्थाओंसे सम्बन्ध रखते हों और जिन विद्याओं, कलाओं और संस्थाओंमें प्रचलित हों, तो यथा-सम्भव अुन्हें ही रहने दिया जाय, फिर भले वे संज्ञायें हों, क्रियायें हों, गुण हों, मूल हों या साधित हों, या व्याकरणके दूसरे कोअी अंग हों, और जैसे शब्द नये ही बनाये जायँ तब सारे प्रान्तोंमें अनि-वार्य रूपसे अेकसे ही रहें। किसी नये विषयका लेखक या नया शोधक अकेला अुसे मान्य हों वैसे शब्द रच सकता है, और जहाँ तक हो सके वे ही शब्द सारे प्रान्तोंमें स्वीकार किये जायँ।

हिन्दुस्तानीके रूपमें मैं जिस भाषाका सूचन करता हूँ, वह किसी बनावटी, जैसे कि अंग्रेजीकी तरह अेक खास मर्यादित शब्द-भंडारवाली या व्याकरणकी मर्यादामें बंधी हुअी भाषाका नहीं, बल्कि अूँचेसे अूँचा, अच्छेसे अच्छा, स्वतंत्र समस्त भाषाशक्तिका क्षेत्र प्रदान करनेवाला साहित्य अुत्पन्न कर सके जैसी भाषाका सूचन है। अुसके शब्द-भंडार, वाक्य-रचना, शैली वगैरामें संस्कृत, अरबी, फारसी, अंग्रेजी या दूसरी किसी भी भाषाका अुपयोग किया जा सकता है। अुसका व्याकरण तथा मुहावरे साहित्यिक मानी जानी हिन्दी तथा साहित्यिक मानी जानी अुर्दू दोनोंके आधार पर रचे जा सकते हैं और किसी दूसरी भाषाके शब्दों और मुहावरोंको भी अपने साथ जोड़ सकते हैं, परन्तु किसी शास्त्रीय विषयकी पुस्तकें लिखनी हों, और शिक्षण-संस्थाओंमें तथा रोजानाके सामाजिक नियमों, व्यापार या दूसरे क्षेत्रोंके व्यवहारमें अुपयोगी विषयोंका निरूपण करना हो, तो अुसमें प्रचलित शब्दोंका तथा आन्तर-प्रान्तीय और आन्तर-राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्दोंका ही

अुपयोग करना चाहिये। साहित्यिक निबन्ध, काव्य, कथा-कहानी वगैरामें लेखकको अपनी रुचिके अनुसार चाहे जैसी भाषा लिखनेकी आजादी होनी ही चाहिये। जितनी यह भाषा समाजको प्रिय होगी, अुतनी ही वह दूसरे क्षेत्रोंमें तथा व्यवहारमें दाखिल होती जायगी और भाषाको समृद्ध करती जायगी।

भाषाओंके सम्बन्धमें हमारे देशमें अेक शौक जरूरतसे ज्यादा फैला हुआ है। अिस पर मैं तालीमकी दृष्टिसे कुछ कहना चाहता हूं। विविध कारणोंसे हमारे देशके ब्राह्मण और व्यापारी वर्गको विभिन्न भाषायें सीख लेनेकी कला सध गअी है। अलबत्ता, दोनों वर्गोंकी सीखनेकी रीति और अुन पर अधिकार तथा विद्वत्ता भिन्न प्रकारकी होती है। पर अेकाध ज्यादा भाषा सीख लेना अुनके लिअे आसान बात हो गअी है, और वैसी कुशलता सिद्ध हो जानेके कारण अुन्हें अिसका शौक भी लग गया है। बारह-तेरह भाषायें जाननेवाले विद्वान हमारे यहां मिल सकते हैं। शिक्षणका तंत्र ज्यादातर अुन्हींके प्रभावमें रहनेसे शिक्षणमें भाषाओंकी संख्या बढ़ानेकी ओर ही अुनका झुकाव रहता है। स्वाभाविक होनेसे मातृभाषा, देशवासीकी हैसियतसे — हिन्दी तथा अुर्दू दोनों शैलियोंसे युक्त — हिन्दुस्तानी, स्वभाषाकी जननी होनेसे संस्कृत या फारसी, धर्मके कारण संस्कृत-प्राकृत, अरबी या जंद भाषा, पड़ोसी धर्मकी दृष्टिसे पड़ोसी प्रान्तकी भाषा, अेकाध द्राविडी कुलकी भाषा और आन्तर-राष्ट्रीय होनेसे तथा पाश्चात्य विद्याओंका द्वाररूप होनेसे अंग्रेजी भाषा — अिस तरह सुझावोंकी सीमा छह-सात भाषायें सीखने तक पहुंच जाती है।

हिन्दुस्तान जैसे बड़े देशमें अैसे अनेक भाषायें जाननेवाले पांच-दस हजार भाषा-पंडितोंके होनेसे कोअी बुराअी नहीं है। अपने अुत्साह या शौकसे भले कोअी आदमी अेकके बाद अेक नयी नयी भाषायें सीखता चला जाय। अिस तरह सीखनेकी अिच्छा रखनेवालेको वैसी सुविधा मिलनी चाहिये। अिसके सिवा, व्यापारियोंकी पद्धतिसे या अुर्दू (बाजारू) पद्धतिसे — यानी किसी दूसरे प्रान्तके लोगोंके बीच बसकर और अुनके प्रत्यक्ष सहवासमें रहकर — अगर कोअी आदमी जुदी जुदी

भाषायें सीख लेता है तो अिसमें कोअी दोष नहीं है। परन्तु शिक्षणके तंत्रमें भाषाज्ञानको स्थान देनेका सवाल हो और फिर अुन भाषाओंके साथ विविध लिपियां भी हों, तो भाषाओंकी संख्या पर कुछ मर्यादा रखनी चाहिये। दूसरे अनेक अुपयोगी विषयोंको हानि पहुंचाकर ही विविध भाषाओंको अभ्यासक्रममें जगह दी जा सकती है। अिस दृष्टिसे मेरी रायमें सिर्फ दो ही भाषाओंका व्यवस्थित शिक्षण आवश्यक हो सकता है — अेक, प्रान्तकी साहित्यिक भाषा, और दूसरी, हिन्दुस्तानी। ये दोनों अच्छेसे अच्छे ढंगसे सिखाअी जानी चाहियें। दूसरी सारी भाषाओंका शिक्षण आवश्यकता पड़ने पर और आवश्यकताके अनुसार ही दिया जाय। अुदाहरणके लिअे, अुच्च शिक्षणमें विज्ञानकी विविध शाखाओंमें अंग्रेजी और जर्मनमें से अेक या दोनों भाषाओंकी जरूरत पड़े यह समझमें आ सकता है। राज्यतंत्रके विषय सीखनेवालेको अंग्रेजी और दुनियाकी कोअी दूसरी अेक या ज्यादा भाषायें भी सीखना जरूरी हो सकता है, दर्शनशास्त्रोंके अभ्यासी, भाषाशास्त्री वगैराके लिअे अेक या ज्यादा प्राचीन भाषायें सीखना आवश्यक हो सकता है। अधिकतर विषयोंकी पुस्तकें अंग्रेजीमें होनेके कारण अुच्च शिक्षणकी पुस्तकें समझमें आ सकें अितना अंग्रेजीका शिक्षण मौजूदा जमानेको देखते हुअे आवश्यक माना जा सकता है। मगर अिसके अलावा दूसरी भाषाओंको सिर्फ भाषाके खास विद्यार्थी ही सीखें, और वह भी अुच्च शिक्षण लेना आरम्भ करनेके बाद ही।

धार्मिक वृत्ति तथा चरित्रकी अुन्नति या आत्मज्ञानके लिअे प्राचीन भाषाओंका ज्ञान आवश्यक नहीं है, न जीवनके व्यवहार चलानेके लिअे ही अनेक भाषाओंके व्यवस्थित — व्याकरणशुद्ध शिक्षणकी जरूरत है। कुछ भाषाओंको समझ लेना और पढ़ लेना काफी माना जायगा। अुनमें लिखना और बोलना आना जरूरी नहीं है।

प्रान्तीय भाषा या हिन्दुस्तानीके व्यवस्थित शिक्षणमें अुन प्राचीन या अर्वाचीन भाषाओंके आवश्यक अंगोंका समावेश होना चाहिये, जिन्होंने अुस भाषाके व्याकरणके रूपमें अुसकी रचनामें अीट-चूना-रेती वगैराका

काम किया है। परन्तु अिसके लिअे हरअेकको वे प्राचीन या अर्वाचीन भाषाये ही सीखना जरूरी नही है।

अगर भाषाज्ञानकी महिमा और अुसमे सम्बन्धित भ्रम कम नही होगे, तो अुद्योग-परायण, व्यवहार-कुशल और प्रसन्न (ताजी) बुद्धिवाली प्रजाका निर्माण होना कठिन है। कोअी चाहे जितनी शिकायते करे, फिर भी शिक्षणमें पडिताअी और तर्क-कुशलताका ही प्रथम स्थान रहेगा।

३

लिपिका प्रश्न — अुत्तरार्ध

लिपिके सम्बन्धमें भी मैं पहले भागमे कह चुका हू। यहा हमें शिक्षणकी दृष्टिसे अुस पर विचार करना है।

स्वर-व्यजन वगैराकी व्यवस्थित योजना,(वर्ण-व्यवस्था या वर्णानुक्रम) और वर्ण (अलग अलग लिपियोमे विशिष्ट ध्वनिया दिखानेवाली आकृतिया और मरोड) दोनो अेक ही चीज नही है। अिस बातमे कोअी अिनकार नही कर सकता कि सस्कृत भाषाका वर्णानुक्रम बहुत व्यवस्थित है। अिसमें भी सदेह नही कि अलिफ-बे या अे-बी-सीके क्रममें कोअी व्यवस्था नही है। और यह भी सच है कि स्पष्ट अुच्चारण बतानेके लिअे कमसे कम जितने स्वतत्र अक्षर चाहिये, अुतने अिन दो लिपियोमे नही है। अिन दोनोकी अपेक्षा सस्कृत वर्णानुक्रमवाली लिपियोमें बहुत ज्यादा अक्षर हैं।

अरबी-फारसी लिपिके सवाल पर अिससे ज्यादा चर्चा करनेकी जरूरत नही है, क्योकि अिस लिपिको अिस देशकी या जगतकी अेकमात्र लिपि बनानेका कहीसे भी सूचन नही किया गया है। अिसलिअे सवाल सस्कृत वर्णमालावाली विविध लिपियो और अे-बी-सीके बीच ही है।

अक्षरोकी सख्या और अनुक्रम-व्यवस्थाकी दृष्टिसे सस्कृत कुलकी लिपियोकी विशेषता अूपर वतलाअी गअी है। परन्तु आकृतियो, स्वर-व्यजनोके योगो और सयुक्ताक्षरोकी सरलता और अिसलिअे अुन्हे सीखने तथा लिखनेमें आसानीकी दृष्टिसे विचार करे, तो अे-बी-सीके गुण सस्कृत कुलकी किसी भी लिपिसे वढ जाते है। और अिस वातसे अिनकार करना मूर्खतापूर्ण आग्रहके सिवा और कुछ नही है। अक्षरोकी, आकृतियोकी सरलताके लिअे दो कसौटिया काफी है। अे-बी-सीके छब्बीस अक्षर और अुनकी ध्वनियोको जन्म देनेवाले सस्कृत कुलकी किसी भी लिपिके छब्बीस अक्षर अेक ही नापमें (मान लीजिये अेक वर्गअिचके चौकठमे) लिखें और फिर नाप कर देखें कि अग्रेजी अक्षरोमें कुल कितने अिचकी लम्बी रेखायें खीचनी पडती है और हमारी लिपियोमें कितने अिचकी। पता चलेगा कि अग्रेजी लिपिमे कुल मिलाकर कम लम्बी रेखाये है। अिसका कारण यह है कि विविध अक्षरोमें हमारी लिपियोकी तुलनामें अे-बी-सीमे कम मरोड और गाठें आती हैं।

दूसरी कसौटी यह है अेक वालक तथा अेक निरक्षर प्रौढको आध-आध घटे हमारी लिपिके मूलाक्षरो तथा अग्रेजी लिपिके मूलाक्षरोका परिचय देना प्रारम्भ कीजिये और देखिये कि वे किस लिपिके अक्षरोको ज्यादा तेजीसे याद कर सकते हैं। अिसके वाद अुन्हे लिखना सिखाअिये और देखिये कि किन अक्षरोको वे जल्दी लिखना सीख जाते हैं।

हमारा वर्णानुक्रम तो अच्छा है, परन्तु वर्णोके मरोड — आकार — सरल नही है, और अुन्हे स्वरोके साथ मिलानेकी तथा सयुक्ताक्षर लिखनेकी पद्धति भी सुविधाभरी नही है। अिससे अिन्हे सीखने तथा लिखनेमे ज्यादा मेहनत पडती है और लिखनेकी गति भी धीमी रहती है।

फिर भी, अगर हम अितने तीव्र देशाभिमानी हो सके कि प्रान्तीय लिपियोको छोडकर देवनागरीमें ही सारी प्रान्तीय भाषायें लिखना स्वीकार कर ले, तो अग्रेजी लिपिका सवाल अेक ओर रखा जा सकता है और अुर्दू लिपिका सवाल भी वहुत गौण हो सकता है।

देवनागरीको सुधारना तो होगा ही। परतु जो प्रजा अपनी प्रान्तीय लिपिया छोडनेकी अुदारता दिखायेगी, अुसे देवनागरीको सुधारनेके बारेमें सम्मत होनेमें ज्यादा कठिनाओी नहीं मालूम होगी।

अगर प्रान्तीय लिपियोंका सवाल अिस तरह बिलकुल खतम हो सके, तो अुर्दू लिपि लिखनेवाले प्रान्तोको तथा (हिन्दू-मुसलमान आदि सब) जातियोंको समझाया जा सकता है कि आप चाहे जैसी अरबी-अुर्दू भाषा बनािअये, अुसे चाहे जितनी अरबी-फारसी प्रचुर बनाअिये, परन्तु अुसे देवनागरीमें ही लिखिये और देवनागरीमें ही सीखिये। अिससे आपकी भाषाको भी लाभ होगा और देशकी दूसरी भाषाओंको भी लाभ ही होगा।

परन्तु जिस तरह हम अपनी प्रान्तीय लिपिके अभिमानको नहीं छोड सकते, अुसी तरह अगर मुसलमान भी अुर्दूके आग्रहको न छोड सके, तो अुन्हे कोअी दोष नही दिया जा सकता — फिर चाहे केवल मुसलमान ही अुर्दूका आग्रह रखनेवाले क्यो न हो।

परन्तु प्रान्तीय लिपियोंका आग्रह छूट सकना आज कठिन मालूम होता है। तब फिर यह देखना रहता है कि शिक्षण और राज्यतंत्रकी दृष्टिसे अिस समस्याको कैसे हल किया जा सकता है। यहा रोमन लिपि भी अपना अधिकार जतानेके लिअे सामने आती है। लेखन, छपाअी वगैराकी दृष्टिसे अिसकी सुविधाके सम्बन्धमें मैं अूपर कह चुका हू। कोअी भी दो लिपिया जाननेवाले लोगोंकी संख्याका हिसाब लगायें, तो दूसरी लिपिकी तरह रोमन लिपि जाननेवाले सबसे ज्यादा निकलेंगे। देशकी कुछ भाषायें रोमनमें लिखी भी जाती है। तारोंमें सभी भाषाओंके व्यक्तियों तथा स्थानोंके नामोंके लिअे रोमन लिपिका ही अुपयोग होता है। देशके बाहर सारी दुनियामें अिसी लिपिका सबसे ज्यादा महत्त्व है। अिसके दोषोंको थोडे परिवर्तन करके दूर किया जा सकता है।

अिन सब बातों पर विचार करनेके बाद मैं नीचे लिखे नतीजों पर पहुचा हू

१ रोमन लिपिका अैसा स्वरूप निश्चित किया जाय कि वह प्रान्तोंकी विविध भाषाओंके अुच्चारोंको संपूर्ण रूपमें और स्पष्ट

रूपमें प्रस्तुत कर सके, अिसे निश्चित की हुअी रोमन लिपि कहा जाय।

२ सबके लिअे दो लिपियोंका ज्ञान आवश्यक हो प्रान्तीय लिपिका और निश्चित की हुअी रोमन लिपिका।

३ किसी भी रूपमें हिन्दुस्तानीको मातृभाषाकी तरह बोलनेवालेकी दो लिपियां होंगी देवनागरी और अुर्दू। यानी मातृभाषाकी तरह हिन्दुस्तानी सीखनेवालेके लिअे देवनागरी तथा रोमन लिपिका अथवा अुर्दू तथा रोमन लिपिका ज्ञान आवश्यक हो।

४ हिन्दुस्तानीको राष्ट्रभाषाकी तरह सीखनेवाले अुसे अपनी प्रान्तीय लिपिमें तथा रोमन लिपिमें सीखें, और अुन दोमें से किसी अेकका अपनी सुविधाके अनुसार अुपयोग करें। प्रान्तीय सरकार अुन दोनों लिपियोंको मान्य रखे। प्रान्तकी भाषाके सम्बन्धमें भी यही नियम रहे।

५ केन्द्रीय सरकारके कामकाजमें अुपयोग की जानेवाली हिन्दुस्तानीमें प्रजा निश्चित की हुअी रोमन, देवनागरी तथा अुर्दूमें से किसी भी लिपिका अुपयोग करे। प्रजाकी जानकारीके लिअे प्रकाशित की जानेवाली विज्ञप्तियां वगैरामें रोमन लिपि तथा जिस प्रान्तके लिअे वह प्रकाशित हो वहांकी लिपि दोनोंका अुपयोग किया जाय।

अिस व्यवस्थासे देशकी हरअेक भाषाके लिअे कमसे कम अेक सामान्य लिपि — और वह भी जगद्व्यापी लिपि — प्राप्त हो सकेगी, और रोजके आन्तरिक व्यवहारोंमें तथा साहित्यमें प्रान्तीय लिपियां भी रह सकेंगी। और कोअी भी भाषा सीखनेका रास्ता आसान हो जायेगा।

४

अितिहासका ज्ञान

पिछले करीब पचास बरसोंसे विद्वानोंने अितिहासके ज्ञानकी बडी महिमा गाअी है, और अनेक दिशाओंमें अैतिहासिक शोध करने तथा अनेक विषयोंका अितिहास लिखनेकी कोशिश हुअी है। अपने देश, जगत तथा जीवनकी अनेक बातोंका पिछला अितिहास जानना मनुष्यकी सर्वांगीण और सामान्य तालीमका आवश्यक अंग माना गया है। अर्थशास्त्रियोंमें अितिहासवादियोंका अेक सम्प्रदाय ही है। कम्युनिस्ट अपनी विचारसरणीको अैतिहासिक सत्यों पर ही रची हुअी मानते हैं और अुस परसे मानव-जीवनके भविष्यके सम्बन्धमें निश्चित मत प्रतिपादित करते हैं। अैतिहासिक ज्ञानकी महिमासे अितिहासको 'सुरक्षित रखनेका' भी अेक आग्रह पैदा हुआ है। और वह अिस हद तक बढा है कि मानवके आदियुगका नमूना लुप्त न हो जाय, अिस दृष्टिसे कुछ पुरातत्त्ववादी अैसा मत रखते हैं कि जंगली तथा पिछडी हुअी जातियोंको अुनकी आदिदशामें ही रहने दिया जाय। अैसे लोग भी हैं जो अनेक रूढियों तथा संस्थाओंको आजके जीवनमें अर्थहीन और असुविधाजनक होने पर भी अितिहासको सुरक्षित रखनेके लिअे बनाये रखना चाहते हैं।

जब अितिहासका अितना ज्यादा महत्त्व माना जाता हो, तब मेरे अैसा कहनेमें धृष्टता मालूम होगी कि यह मान्यता लगभग भ्रमकी कोटिकी है। परन्तु बडी नम्रतासे मैं कहना चाहता हूं कि अितिहासके ज्ञानका जितना महत्त्व माना जाता है अुतने महत्त्वका पात्र वह नहीं है। अितिहासका अितना महत्त्व माननेमें पीतलके गहनेको सोनेका गहना मान लेने जैसी भूल की जाती है।

सच बात तो यह है कि किसी भी घटनाका सोलहों आने सच्चा अितिहास हमें शायद ही मिलता है। मनुष्यकी अपनी ही की हुअी

और कही हुअी बातोंकी भी स्मृति अितनी तेजीसे फीकी पड़ जाती है कि थोड़े समय बाद अुसमें सत्य और कल्पनाका मिश्रण हो जाता है। किसी मानसशास्त्रीने अेक प्रयोगका वर्णन किया है। विद्वानोंकी सभामें अेक नाट्य-प्रयोग किया गया। अुसमें अेक दुर्घटनाका प्रदर्शन किया गया था। प्रयोगके साथ ही अुसकी फिल्म भी अुतारकर रख ली गअी थी। प्रयोग कुछ मिनटोंका ही था। प्रयोग होनेके आधे घण्टे बाद श्रोताओंसे कहा गया कि अुन्होंने जो देखा अुसका ठीक ठीक वर्णन लिखें। नतीजा यह आया कि तीस साक्षियोंमें से सिर्फ अेक-दोका ही वर्णन फिल्मके साथ ९० प्रतिशत मिलता था। शेष सबके वर्णनोंमें ४० से ६० प्रतिशत तक भूलें निकलीं।

अिसमें आश्चर्य करनेकी कोअी बात नहीं है। जब तटस्थ और सावधान साक्षी भी घटनाओंको यों तेजीसे भूल जाते हैं, तब फिर जिनमें घटनाके अुत्पन्न करनेवाले तथा रस रखनेवाले लोगोंका कोअी रागद्वेष — पक्षपात वगैरा हो, अुन घटनाओंके वर्णनोंमें अगर सचाअीका हिस्सा कम हो और जैसे जैसे समय बीतता जाय वैसे वैसे अधिक कम होता जाय, तो अिसमें आश्चर्यकी क्या बात है? वर्तमान घटनायें भी अेक ही दिनमें अैसी शंकास्पद बन सकती हैं कि सच सच घटना क्या घटी, यह कभी भी निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। कल तक सभी विद्यार्थी और शिक्षक कलकत्तेकी 'काल कोठरी' की बातको सच्ची घटना समझते थे। वही अब गप साबित हुअी है। अभी हालमें ही पं० सुन्दरलालजीने यह बतलाकर हमें आश्चर्यचकित कर दिया है कि मुहम्मद गजनीने सोमनाथको लूटा यह बात भी सच नहीं है। अगस्त १९४६के बाद देशभरमें होनेवाले हिन्दू-मुस्लिम अत्याचारों और दंगोंका सोलह आने सच्चा अितिहास कभी नहीं मिल सकेगा। कृष्णका सच्चा जीवन-चरित्र कौन जान सकता है? रामका ही नहीं, अीसा मसीहका भी कभी जन्म हुआ था या नहीं और अीसाको क्रास पर चढ़ाया गया था या नहीं, अिस पर भी शंका की गअी है। शेक्सपीयरके नाटकोंके सम्बन्धमें प्रेमानन्दके नाटकों जैसा ही विवाद है। अिधर विद्वानोंमें अिस सम्बन्धमें चर्चा अुठी है कि कालिदास कितने हो गये हैं।

अिस तरह जिस अितिहासके ज्ञानकी हम अितनी महिमा गाते है, वह भले ही अितिहासके नामसे लिखा गया हो और सेक्रेटेरियेटके दफ्तरोंके आधार पर तथा किसी घटनामें प्रत्यक्ष भाग लेनेवालोंके मुहसे सुनकर लिखा गया हो, फिर भी वह किसी अुपन्यास या सम्भाव्य कल्पनासे ज्यादा कीमती नही होता। अुसका वाचन और पिछली कडियोको खोजने और जोडनेकी बौद्धिक कसरत मनोरजक अवश्य है, परतु शेक्सपीयर, कालिदास या बर्नार्ड शॉके अुत्तम नाटको अथवा पौराणिक वार्ताओ तथा परम्परागत दतकथाओमे न तो अुसकी ज्यादा कीमत करनी चाहिये, न अुनमे ज्यादा अिसके ज्ञानका मोह ही रखना चाहिये।

अितिहास पढकर भूतकालके सम्बन्धमें हम जो कल्पनाये करते है, वे अुचितसे बहुत ज्यादा व्यापक रूप लिये होती है। और अुन परसे हम जो अभिमान या द्वेष अपने हृदयमें बढाते है, वे तो बेहद अनुचित होते है। प्रजा-जीवनके वर्णनोमें प्रजाके बहुत ही थोडे भागके जीवनकी जानकारी दी हुअी रहती है। परन्तु हम समझ लेते है कि वह पूरी प्रजाकी स्थितिका वर्णन है। भूतकालमें भी समृद्धि थी। बडे बडे नगर थे। नालदा जैसे विद्यापीठ वगैरा थे। अिस जमानेमें भी है। परतु हमें अैसा नही लगता कि आजकी तरह तब भी थोडे ही लोग अुस समृद्धिका अुपभोग करते होगे, ज्यादातर लोग गरीब ही होगे, गुरुकुलोका लाभ गिने-चुने लोग ही लेते होगे, गार्गी जैसी विदुषी हर ब्राह्मणके घरमे नही होगी, अनेक ब्राह्मणिया तो आज जैसी ही निरक्षर होगी, और दूसरे वर्णोंके स्त्री-पुरुष भी आज जैसे ही होगे। हम अैसा समझते है कि अुस समय तो सभीकी स्थिति अच्छी ही थी, बादमें बदल गअी। लेकिन बहुत बडे प्रजा-समूहके लिअे अैसा कहा तक कहा जा सकता है, यह शकाका विषय है।

शिवाजीने अुस जमानेके मुसलमान राज्योके खिलाफ मोर्चा लिया और स्वतत्र हिन्दू राज्यकी स्थापना की, अिस परसे हर मराठेको लगता है कि मुसलमानोसे द्वेष करना अुसका कुलधर्म है, अिसी न्यायसे, शिवाजीने सूरतको लूटा था यह पढकर मेरे अेक बचपनके

साथीको, जिसके पूर्वज सूरतमें रहते थे, अैसा लगता था कि शिवाजी और मराठे सब लुटेरे ही थे और महाराष्ट्रियोंके प्रति घृणा रखनेमें अुसे कुलाभिमान मालूम होता था। अगर अितिहास जैसी कोअी चीज न हो, मनुष्यको भूतकालकी कोअी स्मृति ही न रहे, तो देश-देश और प्रजा-प्रजाके बीचकी दुश्मनीको पोषण न मिले। अभी तक वैसी कोअी प्रजा या कोअी व्यक्ति नहीं हुअे, जिन्होंने अितिहास पढकर कोअी सबक सीखा हो और समझदार बने हों।

सच पूछा जाय तो अितिहास स्मृतिका ही दूसरा नाम है। स्मृतिसे अिसकी कीमत कम है, क्योंकि ज्यादातर अितिहास लिखनेकी प्रवृत्ति अुस समय नहीं होती जब कि स्मृति ताजी होती है, बल्कि अुस समय होती है जब वह धुंधली पड जाती है और सच्ची घटनायें जाननेके साधन भी लुप्त होने लगते हैं। परतु ताजी और सच्ची स्मृति भी मनुष्यको मिला हुआ वरदान ही नहीं बल्कि अभिशाप भी है। दो गायोंके बीच सहानुभूति — प्रेम सदा रहता है। अुनके बीचका झगडा क्षणिक होता है, क्योंकि अुनकी याददाश्त बहुत कमजोर होती है। और जब झगडा न हो, अुसका स्मरण भी न हो, तब अुनकी आपसकी सहानुभूति स्वभाव-सिद्ध होती है। परन्तु मनुष्य स्मृतिको ताजी रखकर ज्यादातर द्वेषको ही जीवित रखते हैं, यानी सहानुभूतिको — प्रेमको घटाते हैं। स्वभाव-सिद्ध सहानुभूति — प्रेम अगर किसी खास कर्म द्वारा व्यक्त किया गया हो, तो वह याद रहता है और पुष्ट होता है, अुसके अभावमें या अुसे भुला सकनेवाला झगडा अेकाध बार भी हो जाय, तो वह झगडा स्मृति द्वारा लम्बे असे तक जीवित रहता है।

यह सब देखते हुअे मुझे नहीं लगता कि अितिहासका शिक्षण काव्य, नाटक, पुराण, अुपन्यास वगैरा साहित्यके शिक्षणसे ज्यादा महत्त्व रखता है। अितिहासका अज्ञान किसी प्रसिद्ध नाटक या काव्यके अज्ञानसे ज्यादा बडा दोष नहीं है। अिसे मनोरंजक भाषा-साहित्यका ही अेक विभाग समझना चाहिये।

आजका मानव-जीवन अितिहासका ही परिणाम है। हमे वर्तमान मानव-जीवनका अच्छी तरहसे निरीक्षण करना चाहिये और अितिहासकी कैदमे पडे वगैर अुसकी समस्याओका हल खोजना चाहिये। अैसा भय रखनेका कोअी कारण नही है कि अितिहासकी शृखला टूट जायगी या अुसकी परम्परा सुरक्षित नही रहेगी। क्योकि अुसके सस्कार तो पहलेसे ही हमारे जीवनमे दृढ हो चुके है। अिसलिअे चाहे जितना प्रयत्न कीजिये, अुसकी कारण-कार्य-शृखला कभी टूट ही नही सकती। जो अुपाय हम सोचेंगे वे हमें भूतकालके किन्ही सस्कारोसे ही सूझेंगे, यानी विन-पढे अितिहासमे से ही सूझेंगे। पढे हुअे अितिहासका अिसमे विघ्नरूप होना ही ज्यादा सभव रहता है।

अगर अितिहास न होता तो हमारे झडेके चक्रकी अशोकके धर्मचक्रसे या कृष्णके सुदर्शन चक्रसे तुलना करनेकी अिच्छा न होती, और चाद-तारेके झडेको भी महत्त्व न मिलता। अितिहासका ज्ञान क्षीण होनेके कारण जिस तरह मध्यकालमें हिन्दुस्तानमें आये हुअे शक, हूण, यवन, बर्बर, असुर वगैरा लोगो तथा अुनके धर्मों और आर्योके बीच आज कोअी स्वदेशी-परदेशीका भेद नही करता अथवा कोअी हिन्दूकी सावरकरी व्याख्या पढने नही वैठता, अुसी तरह मुसलमान, अीसाअी, पारसी वगैराके सम्बन्धमे भी हुआ होता। पौराणिक चतु -सीमाके अनुसार अरबस्तान, तुर्कस्तान, मिस्र, बरमा वगैरा सब देश भरतखडके ही देश माने जाते। जिस तरह अितिहासके अज्ञानके कारण हम यह मानते है कि सारे पुराण अेक ही कालमे और अेक ही व्यक्ति द्वारा लिखे गये है, अुसी तरह सारे धर्म सनातन धर्मकी ही शाखाये समझे जाते। अितिहास पढनेके परिणाम-स्वरूप हम दूसरोसे अलग होना सीखते है, दूसरोसे मिलना नही।

तालीममे अितिहासको गौण स्थान देनेकी जरूरत है। अुसकी कीमत भूतकाल-सम्बन्धी कल्पनाओ अथवा दन्तकथाओके बराबर ही समझनी चाहिये।

३०-१-'४८

अुपसहार

अब अिस लम्बे विवेचनको पूरा करना चाहिये।

अिस विषयमे कही भी मतभेद नही है कि जगत आज अतिशय अस्वस्थ है। विज्ञान और अुद्योगोमे खूब विकास हुआ है और प्रतिदिन अुसकी गति बढती जाती है। मानव-जातिके प्रारम्भसे लेकर सन् १८०० ओसवी तकके लम्बे समयमे भी जितना अुत्पादन नही हुआ, अुतना और अनन्त प्रकारका अुत्पादन पिछले दो सौ बरसोमे हुआ होगा। पुराणो तथा योगशास्त्रोमें वर्णित सिद्धिया हम प्रत्यक्ष होती देखते है और योग साधे बिना अुनका अुपभोग कर सकते है। फिर भी तगीका पार नही, दु खोका अन्त नही, शाति-सुलह-सतोषका नाम नही! मानव मानवको देखकर प्रसन्न नही हो सकता। वह बाघ और सापसे भी ज्यादा क्रूर और जहरीला बन गया है। कोअी देश या कोअी प्रजा अैसी नही रही, जो अमानुषतामें दूसरे किसी देश या प्रजासे कम हो। यह नही कहा जा सकता कि अज्ञान, गरीबी या जगली जीवनकी अपेक्षा विद्वत्ता, विज्ञान, तत्त्वज्ञान या सभ्यताके साथ अमानुषताका कम मेल बैठता है।

आखिर हमारे जीवनमें खराबी कहा है? सुखके साधन हमारे लिअे दु खरूप — शाप जैसे क्यो बन गये है? अिसका मुझे जो कारण मालूम होता है वह बताता हू

बगीचेका माली लताकी जडमें पानी डालता है, वहा खुरपी चलाता है, मिट्टी चढाता है, अुसकी नीरोगताकी जाच करता रहता है। जब अुस पर फूलोकी बहार आती है, तो क्षणभर खुश हो लेता है, फूलोके कुछ गुच्छे तोडकर मालिकको दे आता है। अुसे फूलोको देखते हुअे खडे रहनेकी ज्यादा फुरसत नही होती। परन्तु बगीचेका मालिक जब बगीचेमें घूमने निकलता है तो फूलोको देखनेमें लीन हो जाता है। फूलोको जन्म देनेवाली लता और अुसके मूलको देखनेकी बात अुसे सूझती ही नही। दतौन जैसे रूखे और फूल-पत्तोसे रहित

मूलकी तरफ भला अुसका आकर्षण कैसे हो सकता है? अुसका दिल तो फूलोंके रंग और गंधमें ही रमता रहता है। जिस तरह वह पूरे बगीचेमें घूम लेता है, परन्तु अुसकी नजर गाछोंके अूपरी वैभव पर ही घूमती रहती है, नीचे झुककर अुनके मूल नहीं देखती। अुसमें रसिकता तो है, परन्तु वह बाहरका ही समझ सकता है, धारणकी कदर नहीं कर सकता।

अथवा अेक दूसरा दृष्टान्त लें। शंकु आकारके नीचे जैसे अेक बहुत लम्बे पोंगेकी कल्पना कीजिये। अुसके बीचमें खड़ा हुआ मनुष्य
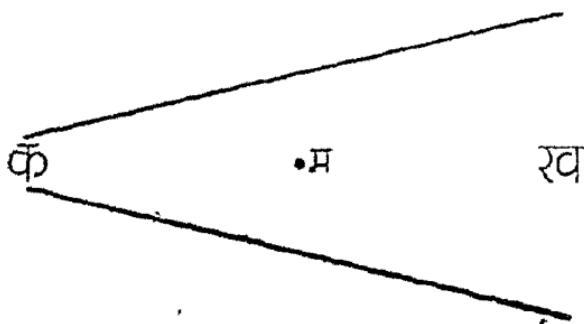
अगर 'ख' की ओर अपना मुंह रखकर चलता है, तो अुसे पोंगेका विकास और विस्तार ही दिखाअी पड़ते हैं। जैसे जैसे वह आगे बढ़ता है जैसे वैसे अुसे प्रदेशकी अनन्तता ही मालूम पड़ती है। कहीं भी अुसके आदि, अन्त या मूल नजर नहीं आते। सब कुछ आगे और आगे बढ़ता हुआ तथा अेक-दूसरेसे दूर और दूर जाता हुआ ही जान पड़ता है। अैसा लगता ही नहीं कि अिसका कभी अन्त भी आयेगा। अुसे अैसा मालूम होता है मानो अनन्तमें भटकते भटकते वह खुद ही खो गया है। परन्तु वही मनुष्य जब 'क' सिरेकी ओर मुड़ता है, तो जैसे जैसे वह आगे बढ़ता है वैसे वैसे पोंगेका सकरापन और खिंचाव बढ़ते जाते हैं। सभी कुछ छोटा, संकुचित और पिचपिच जान पड़ता है। अगर वह आगे चलता ही रहे तो अितने छोटे

प्रदेशमें पहुच जाता है, जहा सिर्फ अुसने ही पोंगा भर जाय। अुसके अपने सिवा और कुछ रहता ही नहीं। वहा विविधता नही होती, विस्तार नहीं होता, बहुलता नहीं होती। मगर अुसे अैसा नहीं लगता कि वह खुद अुसमें खो गया है या रास्ता भूल गया है, बल्कि अुलटे वह समझने लगता है कि मैं ही सब कुछ हू। सबके साथ अुसे अपना ही सम्बन्ध दिखाओी पडता है। पहली स्थितिमें मनुष्य दूसरा सब कुछ देखता है, परतु अपनेको नही देखता, दूसरी स्थितिमें वह सिर्फ अपनेको ही देखता है, दूसरा कुछ नहीं देखता। पहली दशामें वह मानता है कि वह अनन्तमें अुड़नेवाली तुच्छ रज है, जो अकस्मात् अुत्पन्न हो गअी है और बिना किसी ध्येयके यहा-वहा भटक रही है। दूसरी दशामें वह मानता है कि वह खुद ही विश्वका आदिकारण और अर्क है। वह नही जानता कि अुसकी दृष्टि, बुद्धि और गति अेक नकु आकारके पोंगेमें काम कर रही है, जो अेक ओरसे चौडा होता जाता है और दूसरी ओरसे सकरा।
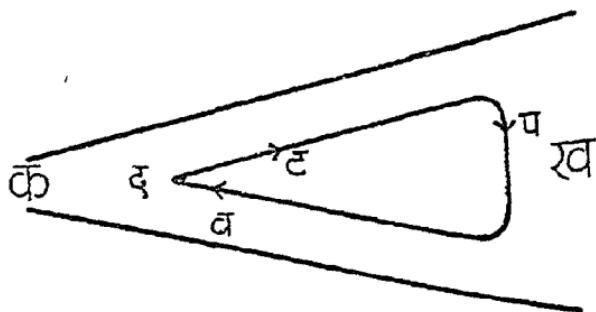
अूपरके दृष्टातको अब थोडा बदल दें। अेक मनुष्यके बदले अनेक मनुष्योंकी कल्पना कीजिये। कुछ 'ख' की दिशामें जाते हैं, कुछ 'क' की दिशामें। जो 'ख' की दिशामें जाते है, वे अनन्त, अपार, विविध, समृद्ध और सर्वव्यापक प्रकृतिको ही देखते है, प्रकृतिकी ही सारी लीला और महिमा देखते है। अुन्हे सब कुछ फैलता और

विस्तृत होता हुआ ही दिखाअी पडता है। शुरुआतमे अुसीका अन्त ढूढनेके प्रयत्नमें वे आगे और आगे तेजीसे बढते जाते है। कोअी थोडा चलकर थक जाता है, कोअी दूर जाकर थकता है। कोअी शीघ्र ही अिस निर्णय पर पहुच जाता है कि अिसका कही भी अन्त आनेवाला नही है, कोअी खूब घूमनेके बाद अिस नतीजे पर पहुचता है। जब वह थकने लगता है तो निराश हो जाता है और वापस लौटना चाहता है। तथा 'प' की दिशामें मुडता है। अिस तरह कोअी बहुत बडा चक्कर लगाकर लौटता है, तो कोअी छोटा चक्कर लगाकर लौटता है।

दूसरी ओर जो 'क' की दिशामें मुडे हुअे है, वे अपने मनकी ही सारी विकृति और भ्रान्तिको देखते है। अुन्हे सब कुछ मनमे ही समाया हुआ लगता है। मनके बाहर किसीका अस्तित्व है या नही, अिसमें अुन्हे सन्देह रहता है। अिसलिअे वे मनको ही पकडनेकी कोशिश करते है। परन्तु वे भी कभी थकने लगते हैं। अिस तरह मनको पकडकर भी अुन्हे पूर्ण संतोष नही होता। अैसा मन अुन्हे शक्तिहीन, विभूति-हीन, कर्तृत्वहीन और संकुचित होता जान पडता है। अिसमे अुन्हे विकास नही मालूम होता, परन्तु विलय — नाश मालूम होता है। अिसलिअे अैसा थका हुआ मनुष्य भी अुसी दिशामे टिकना नही चाहता। वह भी 'द' के पाससे मुडी हुअी दिशामे घूमना चाहता है और शक्ति, विभूति, कर्तृत्व तथा विकासको प्राप्त करनेमें प्रवृत्त होता है। अिसमें भी कुछ लोग जल्दी थक जाते है और कुछ 'क' के बहुत नजदीक तक जाकर थकते है। बहुत कम अैसे होते है जो बिना थके आखिर तक अुसी दिशामे बढते रहते है। अिस तरह कुछ लोगोंके मुह 'ख' की दिशामें मुडे हुअे है और कुछके 'क' की दिशामें। कभी बहुत बडा संघ 'ख' की दिशामे जाता है, तो कभी 'क' की दिशामें। सभी 'ख' की दिशामे जायें या सभी 'क' की दिशामें मुडें अैसा नही होता।

आज मानव-जातिके बहुत बडे भागकी स्थिति बगीचेके अुस मालिक जैसी या 'ख' की दिशामे मुह घुमाये हुअे लोगो जैसी ही है।

मत्र फूलोंकी बहार देखनेमें, प्रकृतिकी खूबियाँ और विविधता खोजनेमें ही मशगूल है। नीचे झुककर या पीछे घूमकर अुन्हे यह देखनेकी अिच्छा नही होती कि यह सब किसका विस्तार है और किसकी विजय और महिमा है। जगत हमें स्वयभू प्रकृतिका ही सारा अटपटा खेल मालूम होता है। अुसका कोअी मूल, बीज, कारण या कर्ता है या नही, अिस विषयमें भी हमारे मनमें शका रहती है। जो अिस सबधमें विचार करते है अुनका खयाल यह है कि जीवसृष्टि — चैतन्यकी अुत्पत्ति — भी अचानक ही हो गअी है। जिस तरह लता पर फूलोकी बहार आती है, अुसी तरह प्रकृति पर जीवसृष्टिकी बहार आअी हुअी है। फूल चाहे जितने सुन्दर और सुगन्धित हो, फिर भी वे मूलके कार्य है, कारण नही या वे अनादि भी नही है, अुसी तरह जीवसृष्टि भी प्रकृतिका कार्य है, कारण नही अथवा वह अनादि भी नही है। अिसलिअे रसिक व्यक्तिकी दृष्टिमें फूलोंकी जितनी कीमत होती है, अुससे ज्यादा हमारी दृष्टिमें जीवकी कीमत नही रही। जब तक फूलमें रग और गध हो तब तक तो अुसकी कीमत है, रग और गध नष्ट हो जानेके बाद वह फूल पैरो तले कुचला जाता है। और अुसकी कीमतका यह मतलब नही कि अुसके लिअे हमारे मनमें कोअी आदर होता है, बल्कि जिसके प्रति हमें आदर हो अुसके लिअे फूलका बलिदान करने जितनी ही अुसकी कीमत हमारे मनमें रहती है। अिस तरह दूसरी जिस चीजका हम महत्त्वपूर्ण समझते है, अुसके लिअे समग्र जीवसृष्टिका और मनुष्योका भी बलिदान करनेमें, अुन्हे गालियोंसे बीध देनेमें, गुलामीमें बाध देनेमें अथवा कुचल डालनेमे हमें हिचकिचाहट नही होती। हमारी नजर लताके मूलकी ओर नही, बल्कि अूपरकी बहारकी ओर, पनेके 'क' सिरेकी ओर नही, 'ख' सिरकी ओर मुडी हुअी है, और यही हमारे दुखोका मूल कारण है। दिनमें सिर्फ हमारी पृथ्वीका ही विस्तार साफ दिखाअी पडता है, परन्तु रातमें तो हमें समग्र विश्वकी समृद्धिके दर्शन होते है। और रात जितनी अधेरी होती है अुतनी ही वह समृद्धि अधिक स्पष्ट दिखाअी देती है, जैसे कोअी व्यक्ति दिनको अधेरा फैलानेवाला

और रातको प्रकाश फैलानेवाली कहे, अुसी तरह हम 'ख' की दिशामें प्रकाश और विकास देखते हैं, तथा 'क' की दिशामें सकोच और शून्यता देखते हैं।

भक्त और तत्त्वज्ञानीकी भाषामें कहें तो हम मायाकी भावनामें भगवानको भूल गये हैं, प्रकृतिके ध्यानमें आत्माको खो बैठे हैं। आधुनिक साधारण भाषामें कहें तो हम महत्ताके और वैभवके मोहमें अिन्सानियतको छोड़ते आये हैं। जिसके लिअे महल बधवाना है वह खुद मरने बैठा है। फिर भी अुसकी सेवा करनेकी हमें फुरसत नहीं है। हम सोचते हैं कि पहले महल बन जाने दो, फिर अुसमें अेक अस्पतालका कमरा भी रखेंगे और अुनमें हम अिसका अिलाज करेंगे। अगर तब तक यह मर गया तो अिसके लडकेका अिलाज करेंगे, और अिसका लडका भी नहीं रहा तो किसी दूसरे बीमारको लाकर अुसमें रखेंगे, यह हमारा न्याय है। 'अंधेर नगरी चौपट राजा' का न्याय अिससे ज्यादा दोषपूर्ण नहीं था। अुलटे अुसने तो सूलीको सूली समझकर ही अुसे खडा किया था, जब कि हम शायद महल समझकर कतलखाना खडा करते हैं।

मतलब यह कि जो बडीसे बडी क्रान्ति हमें करनी है वह यह है कि हम जड वैभव-विलासकी अपेक्षा मानवताको सबसे अधिक महत्त्व और जीवको सबसे अधिक आदर देना सीखें। जिनके अभावमें किसी भी प्रकारका राज्यतंत्र या अर्थवाद या धर्म मनुष्यको सुख-शान्ति नहीं दे सकेगा।

यह लिखते हुअे मैं अितना कह देता हूं कि मेरे मनमें मानव-जातिके सम्बन्धमें निराशा नहीं है। हिन्दुस्तानके बारेमें तो मैं अिससे भी ज्यादा आशावान हूं। मेरा मन कहता है कि मानव-प्रवाह अभी भले ही थोडा अिधर-अुधर टकराये, गोते खाये, नुकसान अुठाये, परन्तु वह फिरसे 'क' की दिशामें अवश्य ही मुडेगा, प्रकृति-पूजाकी जगह फिरसे भगवानकी स्थापना करेगा और अैसा वह अुसे अधिक शुद्ध स्वरूपमें समझकर करेगा। यह निराधार आशावाद नहीं है। पिछले पचास-साठ बरसोंमें हिन्दुस्तानमें जो अेकसे अेक अूंचे नेता पैदा हुअे

है, अुस परसे मुझे लगता है कि हिन्दुस्तानका — और सम्भवतः अुसके द्वारा मानव-जातिका — जहाज सही दिशामें प्रयाण कर रहा है। गांधीजीके बाद पं० जवाहरलालजी और सारे जगतका आदर और आशाकी नजरसे देखना अकारण नहीं है। जवाहरलालजी 'भगवान' शब्दसे दूर रहें अिसका कोअी महत्त्व नहीं, परन्तु अुनकी दृष्टि समग्र मानव-कुलके प्रति आस्था और सद्भावसे भरी है। और वही अुनकी सबसे अूंची आध्यात्मिकता है।

हम अैसी क्रान्ति करें जिसमें कदम कदम पर हमारी मानवता दिखाअी दे, अुसका विकास हो और वह मानव-जातिको अुस पथकी ओर मोड़े। यही सच्ची धार्मिकता है और यही सच्ची समाज-रचना, अर्थ-रचना और राज्य-प्रणालिका है।

शत्रु बड़े मानवमात्रके समान,
गंदगी, रोग, गरीबी, अज्ञान,
आलस, दंभ और असत्य,
मद, मदन और मद्य,
आसुरी अभिलाष, अदम्य विकार,
काम-क्रोध-लोभ-गर्वके अनाचार —
ये सब अधर्म-सर्गके आविष्कार।

अीश्वर-सत्तावाद न सच्ची आस्तिकता,
अीश्वर-नास्तिवाद न सच्ची नास्तिकता।
पिता-पुत्र, भाअी-भाअी, स्वामी-सेवक,
पति-पत्नी, शासित और शासक,
व्यापारी-कारीगर और ग्राहक,
कला, सौंदर्य या विज्ञानके अुपासक,

धन-विषयार्थ ही मानें सम्बन्ध,
अिन्द्रिय-आकर्षणको ही मानें आनन्द,
अैसा बना हो जीवनका लक्षण,
वही नास्तिकताका सच्चा चिह्न।

जहां तक आसुरी अभिलाषाओंमें श्रद्धा,
वहां तक सुख-शांति अृद्धिकी अशक्यता।

बढाना-प्रकटाना अुच्च गुण सर्दैव,
मानवताके अुत्कर्षको मान जीवनका ध्येय,
सद्भावसे, धर्मभावसे करना जीवोंकी सेवा,
मानवमात्रको हृदयमें अपनाना,
जीवमात्रको प्रेमामृतसे नहलाना,
गंदगी, रोग, गरीबी, अज्ञान हटाना,
सत्य, शौच, अुद्योग आदि सद्गुण फैलाना,
अिसमें ही आत्मज्ञान व शान्ति पाना।

अिस तरह जीवनभर करे जो अुपासना,
रखकर अीश्वर-निष्ठा व निःस्वार्थ भावना,
न रखें चिंता, ममता या भावीका सोच,
आवे देहका अंत तो छोड़ें निःसंकोच,
अिनके संतोष, शान्ति और मोक्ष,
नकद, अकल्पित और अपरोक्ष।

२८-११-'४७

लेखककी तीन महत्त्वपूर्ण पुस्तकें

गीता-मंथन

अिस महत्त्वपूर्ण ग्रथमें लेखकने गीता जैसे शाश्वत और सनातन महत्त्व रखनेवाले धर्मग्रथके गूढ और गभीर विपयको सरल, सुबोध और रोचक शैलीमें समझाया है। अिसे लेखकने मामूली पढे-लिखे विचारशील लोगोंके लिअे ही लिखा है, न कि पडित-वर्गके लिअे। यह भारतीय भाषाओंमें गीताका अितना सरल और सरस विवेचन करनेवाला अपने ढगका अनूठा ग्रन्थ है, जो लेखककी सबसे अधिक लोकप्रिय रचना सिद्ध हुआ है।

कीमत ३.०० डाकखर्च १.००

जीवन-शोधन

लेखक प्रस्तावनामें कहते है "जिन्दगी खा-पीकर अैश-आराम करनेके लिअे है, जिससे अधिक अुदात्त भावनाका स्पर्श ही जिन्हे नही हो सकता, अुनके लिअे मुझे कुछ नही कहना है। परन्तु जिनके मनमे अुदात्त भावनाअे है, जिनके मनमें यह अभिलाषा निरतर बनी रहती है कि मेरी आध्यात्मिक अुन्नति हो, मै जीवनके तत्त्वको समझ लू, मेरा चित्त निर्मल हो जाय, मेरा जीवन दूसरोका सुख बढानेमे किसी कदर अुपयोगी हो, अुन्हीके लिअे यह लेखमाला लिखनेको मै प्रेरित हुआ हू।"

कीमत ३.०० डाकखर्च १.२०

संसार और धर्म

अिस पुस्तकमे श्री किशोरलाल मशरूवालाने अपने मार्मिक और मौलिक ढगसे जिन विषयोकी विशद चर्चा की है, वे मुख्यत ये है १ धर्म और तत्त्व-चिन्तनकी दिशा अेक हो तभी दोनो सार्थक बनते है, २ कर्म और अुसके फलका नियम केवल वैयक्तिक विलयमें नही, परन्तु दोनोकी अुत्तरोत्तर शुद्धिमें है, ३ मानवताके सद्गुणोकी रक्षा, पुष्टि और वृद्धि ही जीवनका परम ध्येय है। पुस्तकके आरम्भमें प्रसिद्ध तत्त्वचितक पडित सुखलालजीकी 'विचार-कणिका' तथा अन्तमें श्री केदारनाथजी जैसे साधु-पुरुषकी 'पूर्ति' ने पुस्तककी अुपयोगितामें और भी वृद्धि कर दी है।

कीमत २.५० डाकखर्च १.००

नवजीवन ट्रस्ट, अहमदाबाद-१४

कार्यकर्ताओं के साथ

बेअक्ल काम से और बेकाम अक्ल से बचिये ।। (विनोबा)

he should be । व्यक्ति जैसा है वैसा मानकर ही उसे आदर दो, यह मत सोचो कि उसे ऐसा होना चहिये । इसी तत्व के आधार पर सामाजिक सेवकों से मांग की जाती है कि वे Non-judgemental attitude आत्मसात करे । इस विचार की भूमिका यह है कि जब आप व्यक्ति को उसके गुण दोष के साथ स्वीकारते हैं तभी वह व्यक्ति आपका आदर करता है। आप उसको; वह जैसा है वैसा ही मानकर अपनायेंगे, प्रेम करेंगे तभी उसका आपके प्रति विश्वास होगा। व्यक्ति को ऐसा होना चाहिये, इन आदतों को छोड़ना चाहिये, इस खयाल से अगर हम किसी व्यक्ति को देखते है तो हमारी Subjective attitude (आत्म लक्षी दृष्टि) होगी। जहां हममें पूर्वदूषित खयालों से किसी व्यक्ति का परीक्षण किया, वहां हम व्यक्ति को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं कर सके । जहां हमने उस व्यक्ति को पूर्ण रूप से स्वीकार नहीं किया वहां हम पूर्ण रूप से प्यार नहीं कर सके । और पूर्ण रूप से प्यार न कर सकने के कारण हम उसका पूर्ण विश्वास हासिल नहीं कर सके । यदि उसका पूर्ण विश्वास हमे नही मिला- इसका मतलब है कि हम उसके साथ काम करने मे कामयाब नही रहे। इसलिये समाज सेवक को चाहिये कि वह Non-judgemental attitude रखे । स्वच्छ अंत करण से किसी भी प्रकार का पूर्वाग्रह न रख कर जब हम व्यक्ति के पास जाते हैं तब स्वीकार करना और विश्वास हासिल करना सुलभ हो जाता है ।

राजस्थान खादी संघ

खादीबाग जयपुर

जहां अनेक कार्यकर्ता इकट्ठा होते हैं, वहाँ उनका सह-चित्त कैसा बने, यह एक समस्या है। परस्पर मनोमालिन्य, दूरी भाव, गलत-फहमी, क्लेश आदि जो पैदा होते हैं, वह न हों, यह देखना होगा। अक्सर जब कोई जमात खड़ी होती है, तो हमारी चित्त की कमी के कारण ये सारे पैदा होते हैं। इसका उपाय तो चित्तवृत्तिनिरोध ही है और चित्तवृत्ति शोधन ही है। लेकिन इसके साथ-साथ एक बाहरी आयोजन भी हो सकता है। वह आयोजन इस प्रकार होगा कि लोगों को यह ख्याल छोड़ देना होगा कि हम सारे बराबरी के हैं। हमें समझना होगा कि हम आत्मतः तो बराबरी के हैं, लेकिन देहतः, इन्द्रिय, बुद्धि, मनतः बराबरी के नहीं हैं। आत्मतः हम सब मानवों के ही नहीं, बल्कि प्राणीमात्र के, गधे के भी बराबरी के हैं। वह दूसरी बात है। लेकिन देह, मन और बुद्धि से देखा जाय, तो हम में अन्तर है। हम में अलग-अलग बुद्धिवाले और अलग-अलग शक्तिवाले, भावना वाले लोग हैं, वे हमसे श्रेष्ठ हैं, इस बात को हमें समझना चाहिये। लेकिन इसका कोई विचार किये बिना आजकल हम ऐसी बात करते हैं कि हम सब बराबरी के हैं। इसमें अविवेक है। यह तो समता का ख्याल है, वह जिस दृष्टि से अभी लोग कर रहे हैं, उस दृष्टि से गलत है। जो

दो शब्द

इन वर्षों में मुझे कार्यकर्ताओं को प्रशिक्षण देने, उनके साथ रहने और काम करने का विशेष अवसर मिला है। साथ ही उनकी कठिनाइयों, कमजोरियों, गलत फहमियों, भावनाओं और आकांक्षाओं को निकट से देखने, समझने और उनका विश्लेषण करने का भी अवसर और अवकाश रहा है। इसलिए जब 'राजस्थान खादी पत्रिका' का आरम्भ मैंने अप्रेल, १९५७ में किया, तब कार्यकर्ताओं के साथ सहचिंतन की दृष्टि से सपादकीय के रूप में एक लेखमाला की शुरुआत की। यह क्रम मार्च १९५९ तक चला। सत्रह लेख इसमें लिखे गये। एक लेख कार्यकर्ताओं के सामूहिक जीवन के सम्बन्ध में अलग से शामिल कर दिया है। इस प्रकार कुल अठारह लेखों का यह सग्रह बन गया। पत्रिका के ये लेख बहुत से मित्रों, सहयोगियों और कार्यकर्ताओं को रुचिकर तथा उपयोगी लगे और उनका आग्रह रहा कि इन्हें पुस्तकाकार प्रकाशित कर दिया जाय। परिणामस्वरूप 'कार्यकर्ताओं के साथ' आपके हाथ में है।

कार्यकर्ताओं के बारे में मेरे मन में बडी श्रद्धा और बडी आशा है। अपनी शारीरिक सुख-समृद्धि से ऊचे किसी उद्देश्य से अनुप्राणित कार्यकर्ता ही अपने और समाज के जीवन तथा व्यवहार के विकास का अग्रदूत बनता है और समाज उसके त्याग और तप, विवेक और अभिक्रम से प्रगतिशीलता प्राप्त करता है। समाज में कार्यकर्ता का स्थान सदा से महत्त्वपूर्ण रहा है और सदा रहेगा—उसका नाम चाहे युग-युग और देश-देश में बदलता रहे। कार्यकर्ता के सामने क्या समस्याए और कठिनाइया खडी होती है और

उनके बारे मे उसका दृष्टिकोण क्या रहे—इसे स्पष्ट करने का कुछ प्रयत्न इस पुस्तक मे किया गया है।

स्पष्ट है कि कार्यकर्ता की सारी कठिनाइयों और समस्याओं का उल्लेख इस पुस्तक मे नहीं है। ऐसा करने का कोई दावा भी नहीं कर सकता, क्योंकि कठिनाइया और समस्याए सदा बदलती और घटती-बढती है और प्रत्यक्ष सामना करने पर ही उनका सही हल निकलता है। यहा केवल सामान्य सकेत और पैमाना ही सामने रक्खा गया है, इतना ही उचित और सभव भी है। यहा इतना ही कहना चाहता हूँ कि मैंने इस पुस्तक मे कार्यकर्ताओं के साथ सहचिंतन किया है और मैं आशा करता हूँ कि पढते समय कार्यकर्ता मेरे साथ सहचिंतन करेंगे तो इससे उन्हें विचार को स्पष्ट करने मे मदद मिलेगी।

श्रद्धेय दादा-श्री शकरराव देव ने इस छोटी सी पुस्तक की भूमिका लिखने की स्नेहपूर्वक कृपा की है इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ। मुझे उनसे बहुत प्राप्त हुआ है और आगे भी होगा-यह विश्वास मुझे बल देने वाला है।

जयपुर

जन्माष्टमी, १९५९

—जवाहिरलाल जैन

आमुख

भारतीय समाज अति प्राचीन होने के कारण उसकी जीवन श्रद्धाओं की जडे भारतीय मनोभूमि मे बहुत गहरी है। इन श्रद्धाओं मे से कुछ नीचे लिखी है—

१ जैसे ससार वैसे समाज भी ईश्वर ने या किसी दूसरी अति-भौतिक शक्ति ने निर्माण किया है और उसकी गतिविधि इस शक्ति के बनाये हुये नियमो से नियन्त्रित की जाती है। उसमे हस्तक्षेप करने का मनुष्य का अधिकार नहीं है और वह करेगा तो भी उसका कोई उपयोग होने वाला नहीं है।

२ प्रकृति सत्व, रज और तम-इन तीनों गुणों से बनी हुई है और ससार मे जड और चेतन जो अनन्त पदार्थ है, उन पदार्थों मे यह गुण भिन्न भिन्न मात्रा मे विद्यमान है। लेकिन सारी प्रकृति मे इन तीन गुणों का परिमाण समान होने के कारण ससार में समस्त सुख-दु ख का परिमाण सदैव सम ही रहनेवाला है। इसलिए मानव के प्रयत्नो से शनै शनै दु ख क्षीण होता जायगा और अन्त मे ससार या समाज मे केवल सुख ही रहेगा, यह विश्वास झूठा या गलत है।

३ मनुष्य दु ख से सम्पूर्ण मुक्ति चाहता है तो उसको प्रकृति के अतीत यानी त्रिगुणातीत जो उसका मूल स्वरूप है, उसको प्राप्त करके उसमे सदा के लिये लीन हो जाना चाहिये। ससार रूपी नदी सुख दु ख की धाराओं मे अखड रूप से बहती रहती है और आगे भी रहेगी। इस कारण मनुष्य सुख-दु ख से मुक्ति चाहता है तो उसको इस ससार-नदी मे से बाहर निकलकर किनारे पर आना चाहिये।

४ मनुष्य को इस जन्म मे जो सुख-दु ख महना पडता है, वह उसके पूर्व जन्मो के सुकृत और दुष्कृतो का फल है। इसलिये मनुष्य स्वय ही अपने सुख-दु ख का उत्तरदायी है, और यह सुख-दु ख सहने से ही उसके पूर्व कर्मो का फल नष्ट होने वाला है। इसलिये अन्य कोई भी इसमे सहायक नहीं हो सकता।

५ चराचर सृष्टि का जो अन्तिम मूलतत्त्व है, वह अव्यक्त और निर्गुण होने के कारण नीति-अनीति, सुख-दु ख इन द्वन्द्वो से अतीत है। इसलिए मनुष्य के व्यक्तिगत आचरण मे इस अन्तिम वस्तु की प्राप्ति के लिये चित्त-शुद्धि के साधनरूप, दया, क्षमा, शान्ति ऐसे नैतिक गुणों की आवश्यकता है। यह बात मान्य होते हुये भी सामाजिक आचरण मे उन गुणो की उतनी ही आवश्यकता नहीं मानी जाती।

६. मनुष्य परिवर्तनशील है लेकिन समाज स्थितिशील है। व्यक्ति के शुद्धाचरण का लक्ष्य स्व-उन्नति तथा स्व-मुक्ति है, समाज-सुधार नही है। व्यक्ति के शुद्धाचरण से सामाजिक कृतियों मे जो शुद्धि आयेगी और जितना सुधार होगा, उतना समाज मे से अधिक मनुष्यो का दु ख कम होगा लेकिन सारे समाज मे परिवर्तन होकर समस्त दु ख नष्ट हो जायगा और सुख की वृद्धि होगी ऐसी धारणा सही नहीं है। इसलिए भारतीय समाज मे सेवा के लिये जो स्थान है, वह अपनी शुद्धि और शान्ति के लिये है। सम्पूर्ण समाज की शुद्धि और शान्ति के लिये नहीं है। व्यक्तिगत मुक्ति का सम्बन्ध समाज-सेवा या सुधार के साथ किंचित् भी नहीं है। व्यक्ति स्वय अपने प्रयत्न से ज्ञान, योग या भक्ति के द्वारा मुक्ति प्राप्त कर सकता है। यह भारतीय तत्वज्ञान और अध्यात्म शास्त्र कहता है। इन श्रद्धाओं मे मूलत. जो दोष है या उनको समझने मे जो कमी रही उसी कारण भारत का विचार अत्यन्त श्रेष्ठ और आचार अति साधारण हो गया है।

नर नारायण बन सकता है, ऐसी भारत की श्रद्धा है। वैसी ही श्रद्धा रखने वाले महान पुरुष अन्य देशों मे भी समय समय पर पैदा हुये है। संसार मे आज तक जितने महात्मा और सन्त-सत्पुरुष हुये है, उन्होने अपनी वाणी और कर्म से मनुष्य के लिये देवत्व का मार्ग दिखाया है। यह जो विभूतिया संसार मे अवतीर्ण हुई, वे केवल अपवाद रूप थीं और उनके जीवन का समस्त मानव जाति के जीवन से कोई सम्बन्ध नहीं-यह बात बुद्धि को स्वीकार्य नही होती। इन विभूतियो के जीवन के पीछे कोई निश्चित उद्देश्य रहे है और वह उद्देश्य यही है कि जिस श्रेष्ठ स्थिति को इन विभूतियो ने प्राप्त किया है, उस अवस्था तक पहुँचना हर मनुष्य का जन्म सिद्ध हक है। इसका एक और आधार यह है कि दुनिया मे आज तक जितनी ऐसी विभूतिया हुई है उन सबों ने यही कहा है कि हर मानव प्रयत्न से इस स्थिति को प्राप्त कर सकता है।

८ संसार मे एक ही सद् वस्तु ओतप्रोत है और सृष्टि मे नाना प्रकार की वस्तुए उस एक ही वस्तु का प्रगटीकरण है। यह विकास या वस्तुओं का प्रगटीकरण एक नियमबद्ध क्रम से हुआ है। मानव का जन्म इस क्रम मे एक अवस्था है। मनुष्य मे चेतना या संवेदना है, जिससे उसे अपने स्वय का ज्ञान होता है और आगे के विकास की व्यवस्था की दिशा की ओर मनुष्य ज्ञान पूर्वक कदम उठा सकता है। इस चेतना या समवेदना का एक लक्षण यह भी है कि मानव मात्र एक है, यह समझ कर अपने साथ मनुष्य दूसरों का भी विकास कर सकता है। एक दूसरे के परस्पर सहयोग से, सब मिल कर हम विकास के पथ पर अग्रसर हो सकते है और हो। यह एक ही श्रद्धा सर्व श्रेष्ठ है और अखिल मानव जाति को

भाई जवाहिरलालजी की यही श्रद्धा है और इस सर्व कल्याणकारी श्रद्धा से प्रेरित होकर ही 'कार्यकर्ताओं के साथ' पुस्तक उन्होंने लिखी है। जो कोई चाहता है कि उसके अन्तस्तल मे यह श्रद्धा-दीप प्रज्वलित हो और उसके प्रकाश मे अपना और अपने साथ दूसरों का भी विकास करने के लिये उसमे सेवा-भावना निर्माण हो, उसके लिये भाई जवाहिरलालजी की यह पुस्तक उपयुक्त साबित होगी। कार्यकर्त्ताओं मे कौन-कौन से गुण होने आवश्यक है और उनको अपने मे लाने के लिये कार्यकर्त्ताओं को क्या करना चाहिये, इस बारे मे इस पुस्तक मे भाई जवाहिरलालजी के विचारों की सूक्ष्मता और आचारों का बारीकी से विश्लेषण, यह दो गुण इस की विशेषताएं है।

अनुक्रम

कार्यकर्ता कौन

कार्यकर्ता अपने समाज का सदस्य है, देश का निवासी है, राज्य का नागरिक है, लेकिन वह इससे कुछ अधिक भी है। वह अपने समाज, देश और राज्य का गौरव भी करता है, लेकिन वह केवल इतने से संतुष्ट नहीं है। वह वर्तमान के आगे देखता है और वर्तमान के अंदर भी। वह देखता है कि वर्तमान समाज संगठन में तथा उसके व्यक्तिगत जीवन में दोष है, कमियां हैं, जिनके कारण समाज में दुःख और कष्ट है और उसका अपना जीवन अधूरा है।

जिसे अपनी तथा समाज की कमियों का भान नहीं है, या जो इनकी ओर से उदासीन है, उसे कार्यकर्ता नहीं कह सकते।

ऐसे भी लोग हो सकते हैं जो इन कमियों को तो देखते हों लेकिन यह मानते हों कि यह सब ईश्वर के कोप के कारण है, या भाग्य अथवा पूर्व जन्म के कर्मों का ही परिणाम है, मनुष्य इसमें कुछ नहीं कर सकता। कुछ लोगों की यह धारणा भी हो सकती है कि दुनिया पराई और स्वार्थी है, हमें संसार से कुछ लेना देना नहीं। हमें तो अपनी आत्मोन्नति द्वारा व्यक्तिगत रूप से स्वर्ग-मोक्ष की प्राप्ति ही अभीष्ट है।

जो इस प्रकार की एकांगी दृष्टि रखने वाले हैं उन्हें भी कार्यकर्ता नहीं कह सकते।

जो समाज और व्यक्ति की अपूर्णताएं देखते हों और उन्हें वैयक्तिक तथा सामूहिक प्रयत्नों से दूर किया जा सकता है—यह भी मानते हों, लेकिन अगर वे तटस्थ रह कर केवल दूसरों के प्रयत्नों की आलोचना करते रहें तो उन्हें भी कार्यकर्ता नहीं कह सकते।

तो फिर कार्यकर्ता कौन?

कार्यकर्ता वह है जो अपने समाज के तथा अपने व्यक्तिगत जीवन के दोषों तथा कमियों को देखता है, यह मानता है कि उन्हें वैयक्तिक तथा सामूहिक प्रयत्नों से दूर किया जा सकता है और वह स्वयं इस पुरुषार्थ में लगजाता है तथा दूसरों को लगने के लिए उत्साहित करता है।

वह अपने समाज, देश तथा राज्य का सदस्य है, वह अपनी तथा अपने आश्रित परिवार की जिम्मेदारी भी निभाता है, लेकिन उसकी निगाह समाज के तथा स्वयं के जीवन को दोष रहित तथा उन्नत बनाने पर ही है। इसी में उसकी विशेष रुचि है और उसी के लिए उसका चिंतन-सर्वस्व अर्पित है। संक्षेप में, कार्यकर्ता वह है जिसके जीवन का कोई सामाजिक उद्देश्य या लक्ष्य हो और जिसकी पूर्ति में वह चिंतन तथा कर्म द्वारा लगा हुआ हो।

ऐसे कार्यकर्ता दो प्रकार के हो सकते हैं। एक वे जो समाज के वर्तमान सदस्यों के दुःखों तथा अभावों से द्रवीभूत होकर उनकी सहायता करने, सेवा करने में अपनी शक्ति लगा देते हैं। इस प्रकार के कार्यकर्ता प्रशंसनीय हैं। वे कारुणिक हैं। उन्हें दुखियों के प्रति सहानुभूति है। उनसे समाज का भला होता है और प्रायः समाज उनकी कद्र भी करता है।

दूसरे वे हैं जो समाज में व्याप्त दोषों तथा दुखों की जड की तरफ ध्यान देते हैं और जड को खोद कर नष्ट कर देना तथा नयी नींव से समाज का निर्माण करना अपना कर्तव्य मानते हैं। उनका

सारा प्रयत्न इसी दिशा मे होता है। वे क्रातिकारी हैं। वे परम कारुणिक हैं। वे केवल दुखी का दुख दूर करके सतुष्ट नहीं होते। उन्हे दु ख का समूलनाश ही आनद दे सकता है। वे अभिनदनीय है। लेकिन समाज प्राय उनकी उपेक्षा करता है, अपमान करता है, उपहास करता है, कष्ट देता है, मार भी डालता है। समाज की प्रगति का पौधा इसी खाद से पोषण पाता है।

क्रातिकारी कार्यकर्ताओं की भी दो श्रेणिया है। एक वे जो समाज के दु खों का अत करने की तडप मे साधनो की हीनता-श्रेष्ठता का विचार नहीं करते। साधन चाहे कैसे हों, इसकी उन्हें चिंता नहीं। उन्हें केवल लक्ष्य प्राप्ति का ही विचार है और उसी मे अपने आपको खपा डालते है। दूसरे वे है जो उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के लिए उच्च साधनो का उपयोग ही सभव और इष्ट मानते है। स्पष्ट ही दूसरी श्रेणी के क्रातिकारी समाज तथा व्यक्ति के अधिक विकसित तथा अधिक सस्कृत विचार और स्थिति के परिचायक है।

हमारे विचार मे वे ही पूरे कार्यकर्ता है, वे ही वास्तव मे क्रातिकारी हैं। नये तथा श्रेष्ठ समाज का निर्माण उन्हीं के विवेक तथा पुरुषार्थ से होगा।

जो इस पथ को स्वीकार करते है, जो इस ओर बढ़ना चाहते है, जो इस पथ पर चलने के लिए प्रयत्नशील है, जो चल पडे हैं, वे अवस्था मे, शिक्षा मे, अनुभव मे या और किसी बात मे चाहे कितने ही भिन्न हों, वे सब कार्यकर्ता है और हमारा प्रयत्न उन सब के साथ मिलकर सह-चितन करने का है।

मूल निष्ठाएँ

जिस प्रकार गणित में दो और दो मिलकर चार होते और चार में से दो निकाल देने पर दो बचते हैं, इन सिद्धांतो को स्वीकार करके ही गणित का आरंभ होता है। उनके प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, वे स्वयं सिद्ध सत्य हैं। उसी तरह कार्यकर्ता और खासकर रचनात्मक कार्यकर्ताओ के लिए कुछ ऐसे मूलभूत विचार हैं जिनके विषय में संदेह की गुंजाइश नहीं। इतना ही नहीं, बल्कि ये समाज और जीवन के परम सत्य-स्वयंसिद्ध सत्यों के रूप में स्वीकृत होने चाहिये।

जीवन का लक्ष्य

हमारा जीवन केवल अच्छा खाने, पहनने, भौतिक वासनाओं की तृप्ति करने, मौज उड़ाने के लिये नहीं है। इससे परे और इससे ऊंचा हमारे जीवन का उद्देश्य है। मानव केवल खा-पीकर मोटा ताजा बने रहने वाला प्राणी नहीं है, वह इससे बहुत कुछ अधिक है। उसके जीवन का उदात्त उद्देश्य है, वह उद्देश्य है—अपने शरीर से अलग शक्ति का—चाहे उसे ईश्वर, आत्मा अथवा समाज का नाम दिया जाये, विचार उसके मन में दृढ़ होना चाहिये। उसकी सेवा, समाज की सेवा उसके जीवन का उद्देश्य है, उसकी पूर्ति में ही जीवन की सफलता है। यह दृष्टि कार्यकर्ता की होनी चाहिये।

शुद्ध साधन

दूसरी बात यह कि समाज-सेवा मानव-जीवन का उच्च ध्येय है, इस ध्येय सिद्धि मे हीन उपाय काम मे नहीं लाये जा सकते, क्योंकि कारण के अनुरूप कार्य होता है, यह सृष्टि का अटल नियम है। बबूल बोने से बबूल पैदा होता है और आम बोने से आम। इसलिए समाज-सेवा की सिद्धि के लिये जो कुछ भी विचार और प्रवृत्तिया हमारी हों, वे बिल्कुल शुद्ध, शातिपूर्ण तथा नैतिकतायुक्त ही हो सकती है। इसके विपरीत कुछ हो ही नहीं सकती। अगर इसके विपरीत हुई वे हमारे ध्येय के विपरीत हो जायगी। छल-कपट, धोखा-धडी, झूठ, जोर-जबर्दस्ती और हत्या के उपायो से समाज-सेवा नहीं हो सकती। इसमे सदेह की गुजाइश ही नहीं है। यह मूलनिष्ठा उसमे होनी चाहिये।

लोकतंत्र में निष्ठा

तीसरी बात यह है कि मनुष्य-मनुष्य में रूप-रंग, बुद्धि बल आदि मे हजारों विविधताएँ और विषमताएँ होते हुए भी मानवता के नाते मनुष्य-मनुष्य बराबर है, उनके मूलभूत अधिकार समान है। हरेक के मूलभूत अधिकारों की रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। मानव की इस मूलभूत समानता के आधार पर समाज का नैतिक, आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक सगठन होना चाहिये और व्यवहार चलना चाहिये। इसके विपरीत जो होता है वह अनुचित है, वह नहीं होना चाहिये। समाज की बुराइयो से ऊबकर कभी कभी कार्यकर्ता ऐसा कहने लगते है कि समाज मे डिक्टेटरशिप कुछ समय के लिये कायम होनी चाहिये जिससे समाज की बुराइयाँ दूर हो सके। स्पष्ट ही ऐसा विचार कार्यकर्ता की मूल दृष्टि के दोष का परिचायक है। डिक्टेटरशिप से डिक्टेटरशिप ही

पैदा होगी, लोकतन्त्र उससे नहीं जन्म ले सकता। व्यापक लोकतन्त्र मे कार्यकर्ता का अडिग विश्वास होना चाहिये।

सहयोग भावना

चौथी बात यह कि समाज-सेवा का कार्य सामाजिक तरीकों से ही हो सकता है अर्थात् समाज-सेवा मे मनुष्यों को मिलजुल कर, सहयोग तथा प्रेमपूर्वक ही काम करना पडेगा। मिलजुल कर काम करना है तो मूलभूत सत्य के अतिरिक्त सभी गौण बातो मे अपने मत का आग्रह उसे कम करते जाना चाहिये। सब से ही समाज-सेवा की शक्ति पैदा होती है। इसलिए पारस्परिक स्नेह, सहानुभूति और सहयोग की वृत्ति समाज-सेवा के लिए अनिवार्य है, यह मूलदृष्टि कार्यकर्ता की अवश्य बननी चाहिये।

व्यक्तिगत पवित्रता

पाँचवीं बात यह है कि समाज-सेवा के उच्च तथा शुद्ध ध्येय की सिद्धि उसी परिमाण मे होती है जिसमे मनुष्य का स्वय का व्यक्तिगत जीवन शुद्ध होता है। अपने व्यक्तिगत विचार, आचार और व्यवहार की उत्तरोत्तर शुद्धि कार्यकर्ता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके बिना कार्यकर्ता मे समाज-सेवा की योग्यता आ ही नहीं सकती और वह समाज-सेवा के काम मे टिक ही नहीं सकता। इसलिये उसे निरतर इस शुद्धि की ओर बढने का प्रयत्न आजीवन करते जाना है। यह विचार कार्यकर्ता के मनमे दृढतापूर्वक जमा हुआ रहना चाहिये।

यह कार्यकर्ता की पचमुखी मूलनिष्ठाएँ है। यही कार्यकर्ता के पचशील है। ये सिद्धान्त सही है, यह विश्वास उसमे होना चाहिये और सदा उनकी ओर अभिमुख रहने का उसे बराबर प्रयत्न करना चाहिये।

व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन

व्यक्तिगत और सार्वजनिक जीवन के सम्बन्ध म प्राय दो प्रकार के विभिन्न दृष्टिकोण आजकल समाज मे पाये जाते है। एक दृष्टिकोण तो यह है कि कार्यकर्ता का सार्वजनिक या वाहरी जीवन शुद्ध रहना चाहिये। वह वाहरी जीवन मे सही तरह से रहता है, विनयपूर्वक वोलता है, एकदम जैसा चाहिये वैसा ही व्यवहार करता है, कपड़े-लत्ते और रहन-सहन मे विल्कुल साफ सुथरा वाहर आता है, वाहर के लोगो पर उसका प्रभाव अच्छा पड जाता है, इतना काफी है। अपने व्यक्तिगत जीवन मे वह व्यक्ति कैसा भी हो, अपने स्त्री-पुत्र, नौकर-चाकर आदि से उसका व्यवहार अन्याययुक्त और खराव हो, निजी लेन-देन मे वह प्रामाणिक न हो, नैतिकता का वहुत ध्यान न रखता हो तो यह कहा जायगा कि हमे किसी के निजी जीवन से क्या मतलव है? वह जाने उसका काम जाने, हमारा सम्बन्ध तो केवल वाहरी और सार्वजनिक जीवन से आता है, उसमें वह ठीक है तो हमारे लिये विल्कुल ठीक है।

सार्वजनिक जीवन की असंगति

दूसरा दृष्टिकोण यह है कि कार्यकर्ता अपने व्यक्तिगत जीवन मे वहुत सादा, प्रामाणिक और शुद्ध है, ईमानदारी का पूरा ध्यान रखता है, दूसरे के हक को जरा भी नहीं कुचलता—इतना काफी

है। किन्तु समाज के फायदे के लिये, बिरादरी या देश के लाभ के लिये, सस्था के हित की दृष्टि से वह झूठ बोले, बेईमानी करे, इन्कमटैक्स आदि की चोरी करले, दूसरे देश, समाज या सस्था के लोगों के साथ दगा करले, उनकी कमजोरी, मजबूरी या कम समझी का फायदा उठाले तो कोई हर्ज की बात नहीं। उसे बडा होशियार, देशभक्त, समाजसेवी या जाति-हितैषी मान लिया जाता है। सस्था या समूह के लिये की गई बेईमानी और अन्याय को सस्था-भक्ति समाजभक्ति या देशभक्ति मान लिया जाता है।

इसी का एक मिश्रित रूप है जो आजकल हमारे देश मे बहुत व्यापक रूप से पाया जाता है। वह यह कि दूसरों की कमजोरी भूल और अपराध हमे बहुत बडे मालूम होते है, उनकी आलोचना हम एक पैमाने से करते हैं और अपने या अपनों मे जब वे ही कमजोरिया, भूले या अपराध बन जाते है तो उन्हें मजबूरी या परिस्थिति कहकर उनकी गुरुता को कम करने या बिल्कुल ही भुला देने की कोशिश करते है। इस प्रकार हम अपने और अपनों के लिये एक प्रकार का पैमाना रखते है और दूसरों के लिये दूसरे प्रकार का। इन दोनों मे अक्सर बहुत बडा अन्तर पाया जाता है।

ये तीनों प्रकार के दृष्टिकोण आज हमारे देश मे पाये जाते है और अक्सर कार्यकर्ता कभी अपनी व्यक्तिगत जीवन की अशुद्धता को छिपाने के लिये पहले दृष्टिकोण का सहारा लेते है और अपनी कृति का समर्थन करते है और कभी अपनी सस्थागत या समाजगत महत्वाकाक्षा, अहकार या लालच की पूर्ति के लिये किये गये कार्यों का दूसरे दृष्टिकोण से समर्थन करने की कोशिश करते है।

विभाजित जीवन

इसका परिणाम यह होता है कि कार्यकर्ता का व्यक्तित्व और उसकी नैतिकता बट जाती है, वह एक तरह से विभाजित व्यक्तित्व (split personality) बन जाता है। उसके सदाचार के भी दो पैमाने बन जाते हैं। एक पैमाना घर या व्यक्तिगत जीवन का होजाता है और दूसरा पैमाना बाहरी या सामूहिक जीवन का होता है। एक व्यक्तिगत जीवन मे साधु रहता हुआ भी सार्वजनिक जीवन मे दानव बन जाता है और दूसरा सार्वजनिक जीवन मे गाय प्रतीत होता है और घर मे भेडिया बनकर घर के लोगो को आतंकित और त्रस्त रखता है।

सर्वव्यापी बुराई

बटे हुए जीवन के ये दोनों प्रकार ही कुल मिलाकर अन्त मे व्यक्ति और समाज दोनों के लिये हानिकारक सिद्ध होते हैं। सार्वजनिक जीवन की अप्रामाणिकता का असर व्यक्तिगत जीवन पर पडे विना नहीं रह सकता और व्यक्तिगत जीवन के अन्याय और शोषण का प्रभाव सार्वजनिक जीवन पर भी पडता ही है। दोनों प्रकार से मनुष्य की अतरात्मा पतित होती है और सामाजिक जीवन अशुद्ध बनता है तथा उसका ह्रास होता है। यही कारण है कि व्यक्तिवादी स्वतन्त्र जीवन मे भ्रष्टाचार और स्वार्थपरता आये विना नहीं रहती और समाजवादी सामूहिक जीवन मे शोषण और अन्याय आकर ही रहता है। इसी के परिणामस्वरूप एक तरफ पूंजीवादी तथाकथित लोकतन्त्र, साम्राज्यवाद, उपनिवेशवाद आदि के समर्थक बन जाते हैं और दूसरी ओर समाजवादी तथाकथित गणराज्य, सैनिक तानाशाही, कन्सेन्ट्रेशन कैम्प आदि का समर्थन करने लगते हैं। वास्तव मे आज की समस्या मनोवैज्ञानिक है,

नैतिक है और इस विभाजित व्यक्तित्व और विभाजित सदाचार की है जो व्यक्ति से आरम्भ होकर जगत तक फैल गई है। पिंड में जो बुराई अणुरूप में है, ब्रह्माण्ड में वही विराटरूप होगई है।

कार्यकर्ता की जिम्मेदारी

इसका उपाय भी पिंड में ही है। कार्यकर्ता चूंकि व्यक्तिगत जीवन के शोधन और समाज के जीवन को उन्नत करने के लिये प्रयत्नशील है, अत कार्यकर्ता के लिये अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपने व्यक्तित्व को और सदाचार को इस प्रकार विभाजित होने से रोके। दरअसल व्यक्ति के जीवन को निजी और सार्वजनिक इस प्रकार दो भागों मे बांटा ही नहीं जा सकता और न सदाचार के ही दो पैमाने हो सकते हैं। जो सदाचार व्यक्तिगत जीवन मे ग्राह्य और प्रशंसनीय है, वही सदाचार सार्वजनिक जीवन मे भी आदरणीय और ग्रहण करने योग्य माना जाना चाहिये। न निजी जीवन के नाम पर दुराचार, आलस्य और झूठ का समर्थन किया जाना चाहिये और न देशभक्ति और संस्थाहित के नाम पर देश और संस्था के लिए भी चोरी, शोषण और अन्याय को ठीक माना जाना चाहिये। मनुष्य का जीवन समग्र है और उसका सदाचार भी समग्र ही होना चाहिये।

जीवन और सदाचार का एक पैमाना

वास्तव मे कार्यकर्ता का जीवन, आचरण और व्यवहार एक खुली किताब होना चाहिये। उसे अपनी कमजोरी, भूल या अपराध को न व्यक्तिगत जीवन के नाम पर छिपाना चाहिए और न संस्थागत या सार्वजनिक जीवन के नाम पर उसका समर्थन ही करना चाहिये। इसी प्रकार दूसरों का गुण-दोष विवेचन भी समग्र

जीवन और समग्र सदाचार के आधार पर ही होना आवश्यक है। हमें जीवन और सदाचार के एक ही पैमाने को मान्य करना चाहिये और सब परिस्थितियों में और अवसरों पर उसीसे अपने आचरण और व्यवहार को मापना चाहिये। तभी कार्यकर्ता का व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन सुखी, सरस और समृद्ध बनेगा और जनजीवन में प्रामाणिकता, नैतिकता और उच्चता आयेगी। जब तक हम दूसरों के द्वारा किये गये भ्रष्टाचार, अन्याय आदि का रोना रोते रहेंगे और अपनी गल्तियों को मजबूरी और परिस्थितियों के नाम पर क्षम्य मानते रहेंगे, तब तक समाज में न व्यक्तिगत जीवन सुधरेगा और न समाज का स्तर ऊंचा उठेगा।

सामूहिक जीवन

२६. कार्यकर्ताओं को आन्दोलन या कार्य के सिलसिले मे एक दूसरे के सपर्क मे आना होता है और बहुत बार अकेले अकेले या सपरिवार एक जगह या पास-पास रहने का भी अवसर मिलता है। चूकि कार्यकर्ताओं का जीवन-उद्देश्य ही समाज-सेवा और सशोधन का होता है, इसलिये उसे स्वय छोटा सा समाज बनाकर रहना पडे, यह अच्छा ही है और एक तरह से यह उसके कार्यकर्ता होने की कसौटी ही है कि जिन आदर्शो और व्यवहारों को वह सारे समाज मे लाना चाहता है, उनको वह स्वय अपने निकट के समाज मे कहा तक लागू कर सकता है।

लेकिन जहा दो चार कार्यकर्ता चाहे अकेले-अकेले, चाहे सपरिवार साथ रहते है, वहां बहुत बार आपसी कलह, मनमुटाव आदि देखे जाते है और प्राय यह वृत्ति बनती दिखाई देती है कि कार्यकर्ता काम चाहे साथ साथ करे, परन्तु रहें एक दूसरे से अलग और दूर, तो ही कार्यकर्ताओ में आपस मे बाहरी शिष्टाचार कायम रह सकेगा। यह स्थिति कार्यकर्ताओं की आपस की व्यवहार की कमी और विचारों के विकास की न्यूनता की द्योतक है. साथ ही कार्यकर्ताओ के पारिवारिक जीवन के विकास की कमी भी सूचित करती है। इससे यह भी सकेत मिलता है कि कार्यकर्ताओं मे सैद्धातिक विचार चाहे कितना ही बढा है, उसका व्यवहार और आचरण अभी काफी पिछड़ा ही है।

बाहरी और घरेलू व्यवहार

इस संबंध में दो तरह से विचार करना जरूरी है। एक तो यह कि कार्यकर्ता के अपने कार्यालय के जीवन और घरेलू जीवन में बहुत बड़ा अन्तर है। कार्यालय में वह अपना बाहरी व्यवहार बहुत सौम्यता और शिष्टतापूर्ण रखता है, लेकिन घरेलू जीवन में उसका असली रूप प्रकट होजाता है। बाहरी जीवन में जो बहुत चुस्त, व्यवस्थित और नम्र दिखता है, घरेलू जीवन में प्राय सुस्त, अव्यवस्थित और अहकारी या अविचारी होता है और यही उसका वास्तविक रूप होता है और परिणाम यह होता है कि कार्यालय के छ आठ घटों में जो मुलम्मा चढा रहता है, वह बाकी के दस बारह घटो के दैनिक जीवन में नहीं कायम रहता और स्वार्थ, कलह तथा अहकार की असली वृत्तिया प्रकट होजाती है, इसलिये रात दिन साथ रहनेवाले कार्यकर्ताओं में आपस में निभना कठिन हो जाता है।

कभी कभी ऐसा भी होता है कि व्यक्तिगत और अलग-अलग व्यवहार में कार्यकर्ता बहुत समझदार और सतुलित होते हैं, लेकिन जब पाच-सात कार्यकर्ता इकट्ठे होजाते है तो फिर उनमे एक प्रकार की वानरी-वृत्ति जागृत होजाती है और उनमें सबमें जो निम्न वृत्तिया छिपी पडी थीं, वे सब उभर कर इकट्ठी होजाती है और इस प्रकार के शरारती, हानिकारक और अनुचित तथा अनैतिक काम उनके द्वारा हो जाते है जो वे अकेले-अकेले शायद कभी नहीं करते। ऐसी स्थिति कम उम्र के लोगों में, विद्यार्थी आदि में अधिक देखी जाती है। इसका अर्थ यह है कि ऐसे कार्यकर्ताओ मे हीनतम सामान्य वृत्तिया जागृत और एकत्रित होजाती है, जो उनके व्यक्तिगत विवेक को सामूहिक जोश के सामने दबा देती हैं।

पारिवारिक अडचन

कभी कभी ऐसा होता है कि कार्यकर्ता स्वय तो विचार और व्यवहार की दृष्टि से समझदार होता है लेकिन उसके परिवार के लोग उसके विचार और व्यवहार को न तो समझते ही हैं और न उसे मान्य ही करते हैं, बल्कि उस कार्यकर्ता को सासारिक व्यवहार में अकुशल, सीधा और मूर्ख समझते हैं और स्वय को बुद्धिमान मानकर ऐसा स्वार्थपूर्ण तथा अहकार युक्त व्यवहार करते हैं, जिससे कार्यकर्ताओं के परिवारों में मनमुटाव और कलह हो जाता है और वह बढकर कार्यकर्ताओं मे आपस मे भी फैल जाता है और जो कार्यकर्ता अकेले अकेले मित्र बन कर रहते थे, परिवारों के आजाने से वह मैत्री समाप्त होकर उदासीनता आजाती है और कभी कभी वह शत्रुता के रूप में भी प्रकट होने लगती है। यह परिस्थिति कभी कभी कार्यकर्ता की दुर्बलता के कारण बनती है, कभी उसकी गैर जानकारी के कारण और कभी कभी उसके स्वय की उस स्वार्थपरता के शिकार होकर परिवार का साथ देने के कारण भी बनती है।

प्रेम का व्यापक क्षेत्र

इन परिस्थितियों मे कार्यकर्ता को गहराई से सोचने और अवसर पर दृढता से काम करने की जरूरत है। पहली बात तो यह, सज्जनता और शिष्टता कार्यकर्ता का बाहरी बाना नहीं होना चाहिये, वह उसके अन्तरतम प्रदेश में प्रवेश कर जानी चाहिये। जो शालीनता वह कार्यकर्ताओं के साथ तथा बाहर के लोगों के साथ बरतता है, वही उसे अपने परिवार के लोगों के साथ बरतनी चाहिये। वह शालीनता उसका स्वभाव बन जानी चाहिये। तब उसके बाहरी व्यवहार और घरेलू व्यवहार मे जो विषमता है—वह

दूर हो जायगी और तव अगर कार्य के समय के बाद भी कार्यकर्ता रात दिन पास पास रहते है, तव भी उनमे द्वेष और मनमुटाव की नौवत नहीं आयगी। दूसरी वात यह है कि कार्यकर्ता को परिवार के अन्य लोगो के वीच न तो सकुचित स्वार्थ की दृष्टि स्वय को अपनाना चाहिये और जहां तक हो परिवार के लोगों को भी वह दृष्टि अपनाने से रोकने की कोशिश करनी चाहिये। हम रिश्तेदारो के महत्व को प्राय बहुत ज्यादा आकते है और उनके लिये बहुत कुछ करने को तैयार रहते है, "खून पानी से गाढा होता है" आदि कहावते इस विचार के समर्थन मे पेश करते है लेकिन पडौसी के महत्व को प्राय भुला देते है। हमे पड़ौसी के धर्म को समझना चाहिये। रिश्तेदारों से कभी कभी मिलना होता है, पडोसी हमारा चौवीस घटे का साझीदार है। अगर पडौसियों मे आपस मे निकटता और मैत्री हो तो हमारा प्रत्येक दिन सुखद होजाय, जवकि पड़ौसी के साथ कटुता हो हमारे प्रत्येक दिन को कटु वना देती है और उदासीनता उस प्रसन्नता के अवसर को प्रतिदिन नष्ट करती रहती है। इस पड़ौसी धर्म का महत्व हम समझ जाये तो कार्यकर्ता-परिवारों के बीच स्वाभाविक रूप से मैत्री सवध स्थापित हो जाते है और मधुरतर होते जाते है।

सहजीवन आवश्यक

इस प्रकार के सामूहिक जीवन को मधुर बनाने मे हमे तीन वाते सहायक हो सकती हैं। पहली वात तो यह कि हम अपने पडोसी अथवा साथियों की निन्दा सुनने मे रस न ले। परनिन्दा-रस पड़ौसियों और साथी कार्यकर्ताओं मे मनमुटाव पैदा करने का सवसे वडा कारण है। इसे कभी अपने मन मे न पनपने दे। थोड़ी भी ऐसी वात सुनकर मन मे उत्सुकता या प्रसन्नता की-भावना आये तो तुरन्त सभल जाय। इसी मे दूसरो की कमजोरी

को अपराध और अपनी कमजोरी को मजबूरी समझने का दुहरा पैमाना आदमी के मन मे घर कर लेता है।

दूसरी बात यह कि जब साथी कार्यकर्ता, पडौसी और मित्र मिलकर बैठे तो कभी ऐसी हल्की चर्चा मे न पडे, ऐसे सामूहिक कार्यक्रमो का समर्थन न करे जिन्हे हम स्वय अकेले करने को तैयार न हों, अर्थात् सामूहिक जोश मे वह न जाय, उस जोश मे होश को हाथ से न जाने दे। तीसरी बात यह कि साथ उठने-बैठने, आने-जाने के, विचार प्रकट करने के, खाने-पीने के मौके बढाने चाहिये। साथ रहने से, साथ आने जाने से आपस का हेलमेल बढता है। प्रेम मे सभवत तीन चौथाई भाग सहजीवन का है। अत सहजीवन के अवसर बढे, यह बहुत आवश्यक है। लेकिन इसमे यह ध्यान रहे कि इसमे अपना भार स्वय उठाने के लिये प्रयत्नशील रहे। स्वय अपना भार दूसरो पर न पडने दे, बल्कि दूसरो का थोडा बहुत स्वय उठाने को तैयार रहे। इस प्रकार की वृत्ति, व्यवहार और आचरण रहेगा तो कार्यकर्ताओ का निजी जीवन भी समृद्ध होगा और सामूहिक जीवन भी रसपूर्ण बनेगा। कार्यकर्ताओं मे, सामूहिक जीवन की सफलता जितनी कठिन लगती है उतनी ही आवश्यक भी है। असल मे, वही नई समाज रचना की पहली महत्वपूर्ण सीढ़ी है।

है-यह ठीक है। फिर भी कुल मिलाकर दिन रात के २४ घंटे में ८, ९ घंटे से अधिक का औसतन काम प्राय. नहीं होता। बाकी के समय में वह जरूर इन कमियों को ठीक कर सकता है। इस सबके लिये आधा घंटा प्रतिदिन का ध्यान भी बहुत काफी है।

चमक-दमक और टीप-टाप न सही, लेकिन उसे आत्मोन्नति या समाज सेवा के लिये जीवित तो रहना ही है और जब तक जीना है, तब तक स्वस्थ भी रहना है तथा रहना भी समाज के लोगों के बीच में है। इसलिये शरीर और कपड़े साफ-सुथरे तो रहने ही चाहिये न?

चमक-दमक और टीप-टाप मत रखिये। तेल, कंघा, सुरमा और सेंट से अवश्य बचिये। सिल्क मत पहनिये, मोटी खादी पहनिये। कपड़े बहुत संख्या में मत पहनिये। लज्जा ढकने लायक और ऋतु की प्रतिकूलता से बचाने लायक ही कपड़े पहनिये। लेकिन आत्मोन्नति और समाज-सेवा के साधन स्वरूप इस शरीर को साफ और स्वस्थ तो रखिये और कपड़े चाहे घटिया पहनिये लेकिन उन्हें साफ तो रखिये। फट जाय तो कोई बस नहीं, लेकिन उन्हें सी तो लीजिये, पैबन्द तो लगा लीजिये। इसमें किसी की आध्यात्मिकता और व्यस्तता बाधक नहीं होती।

खर्च की बात भी ठीक है। कार्यकर्ता की आमदनी तो अपेक्षाकृत कम ही होती है। प्रत्येक कार्यकर्ता किसी ऊंचे आदर्श की पूर्ति का व्रत लेकर इस क्षेत्र में आता है। त्याग तथा अभाव के जीवन को उसने जान बूझकर स्वीकार किया है, अत उसे आर्थिक कठिनाइयों में तो रहना ही है। इसमें उसका गौरव भी है और इसीलिये वह कार्यकर्ता भी है। सचमुच ही कार्यकर्ता को त्याग और अभाव में आनन्द की अनुभूति होनी चाहिये, क्योंकि वह केवल अपने भौतिक सुख के लिये नहीं जीता बल्कि वह समाज,

ईश्वर या आत्मा के लिये जीता है। इसलिये आमदनी की कमी तो स्वाभाविक है पर इसी में उसे अपनी व्यवस्था करनी है।

लेकिन हमारा अनुभव है कि गंदगी और अव्यवस्था आम-तौर पर आमदनी की कमी के कारण नहीं होती। शरीर को साफ रखने में पानी, खार, हाथों की मेहनत और फटे पुराने साफ कपड़े के टुकड़े ही काम मे आते है और मामूली साबुन भी बहुत महगा नहीं पड़ता। घर मे बनाये तो और भी सस्ता रहता है। आमदनी की कमी बहुत अंशो में केवल अपने आलस्य को छिपाने का बहाना है। इससे कार्यकर्ता को बचना है।

रही जवानी की बात, सो जब तक मौत नहीं आती तब तक तो जिन्दा रहना ही है और चूंकि कार्यकर्ता ने अपना जीवन किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये अर्पित कर दिया है, इसलिये उसका जीवन तो समर्पित है। उसे अपने शरीर की रक्षा समाज और ईश्वर की धरोहर के रूप मे करनी है। जब तक जीना है, तब तक उत्साह तथा आनन्द पूर्वक जीना है, सेवा पूर्वक जीना है। अत कार्यकर्ता को तो कबीर का यह उद्घोष सिद्ध करना चाहिये-

दास कबीरा जतन से ओढी
ज्यों की त्यों धर दीनी चदरिया।

इसलिये जो अपने आप को कार्यकर्ता कहते है, उनके लिये यह अनिवार्य है कि वे विचारो के साथ साथ अपने शरीर, अपने कपडो आदि को भी स्वस्थ और साफ सुथरा रखे। गंदगी, अव्यवस्था, आलस्य और असावधानी से दूर रहे।

यह स्पष्ट समझ लेना चाहिये कि ऊंचे विचार न केवल बडी बाते बनाने से प्रकट होते है और न बडी पुस्तके पढने से। वे तो स्वस्थ, संयमी और शिष्ट जीवन से ही प्रकट होते है। इसी प्रकार

सादा जीवन भी सफाई और व्यवस्थापूर्ण रहन-सहन तथा आचरण में ही अभिव्यक्त होता है। यह टीप-टाप, खर्चीलेपन और अहंकार से जितना दूर है उतना ही दूर गंदगी, अव्यवस्था, आलस्य और झूठ से भी है।

अतः सादा जीवन और ऊंचे विचार का अर्थ किसी महान उद्देश्य की ओर साधनारत, सरल, संयमी और उत्तरोत्तर प्रगतिशील जीवन ही है और ऐसा जीवन निश्चय ही बाहर-भीतर दोनों तरफ से साफ सुथरा, व्यवस्थित और शिष्टतापूर्ण होगा।

जीवन की साधना

आये दिन कार्यकर्ताओं से मिलने और उनके बारे में बात करने के अवसर आते हैं। कोई बीसों-पचीसों वर्ष पुराने अनुभवी कार्यकर्ता होते हैं, कोई वर्ष, दो वर्ष, पांच वर्ष पुराने होते हैं, कोई कार्यकर्ता बनने की इच्छा से आये हुये होते हैं। इन सबसे चर्चा होती है। अमुक कार्यकर्ता बहुत अनुभवी और योग्य है, बुनाई के काम के विशेषज्ञ हैं, हिसाब के विशेष जानकार हैं, उत्पादन के काम के बहुत अनुभवी हैं, साबुन साजी के विशेषज्ञ हैं, अमुक प्रकार का टेक्निकल ज्ञान उन्हें है। कार्यकर्ता-प्रशिक्षण, अभ्यास क्रमों की चर्चा होती है तो प्रशिक्षण का एक ही ध्येय सामने रक्खा जाता है—इतनी गुण्डियां कातनी चाहियें, इतने थान बुने जाने चाहियें, इतनी तेल घाणियां निकाली जानी चाहियें। प्रशिक्षण केन्द्रों में भी इसी बात पर जोर दिया जाता है और सारी शक्ति प्रशिक्षकों तथा प्रशिक्षणार्थियों की-इस पर केन्द्रित होजाती है कि गुण्डियों की, थानों की, तेल घाणियों की, कागजों की निर्धारित संख्या किस प्रकार पूरी हो।

इसका परिणाम कभी कभी यह भी देखने में आता है कि अवांछनीय और अनुचित तरीकों से वह संख्या पूरी करने की कोशिश की जाती है। ऊँचे २ लक्ष्यांक, उत्पादन, बिक्री, प्रचार आदि के रक्खे जाते हैं और वे जब अवधि में पूरे नहीं हो पाते हैं तो फिर जैसे-तैसे आंकड़े भर कर लक्ष्यांक तक पहुँचने की कोशिश

की जाती है या जैसे-तैसे कोई रास्ता खोज कर बच निकलने का, टालने का, इधर उधर दोषारोपण करने का प्रयत्न चलता है। फल यह होता है कि विशेषज्ञता पर बहुत ज्यादा जोर देने से मस्या और उझाक घुस आते है, उनसे असत्य को आश्रय मिलता है, फिर सारे दोष उभडते चले जाते है और अन्त मे व्यक्ति और समाज दोनो का ह्रास होता है।

ये कलाकार!

बहुत से तथाकथित कलाकार अपनी कला की कलम, कूची या छैनी के उपयोग मे बडे कुशल होते है, अपनी कला के विशेषज्ञ होते है, लेकिन उनका जीवन बडा अस्त व्यस्त होता है। न उन्हें खाने की सुध है न पहनने की। बाल बढे हुये है, दाढी उलझी हुई है, मुह से बदबू आती है, कपडे फटे हुये है। इधर से उधर ले आये, उधर से सामान उठा लाये। पचास से वादे कर लिये। दो के पूरे किये, दम भींकते फिरते है। स्वयं परेशान है, परिवार वाले परेशान है, समाज के लोग परेशान है और फिर यह घमड है कि हम बडे कलाकार है, स्रष्टा है, बड़ा काम करने वाले है। हमें लगता है कि जिसने व्यवस्थित और प्रामाणिक जीवन की कला नहीं साधी, जिसने समाज सेवा की कला प्राप्त नहीं की, उसने कोई कला नहीं सीखी। उसका कोई कार्य ठीक नही होगा। वह कभी सच्चा कलाकार और कार्यकर्ता नही बनेगा। उसकी कला कभी उसे तथा समाज को उन्नत नही कर सकेगी।

समग्र चिन्तन का अभाव

आज हमारे देश मे भी विशेषज्ञता की बहुत कद्र की जाती है। बाहर के देशों मे—रूस और अमरीका दोनों मे विशेषज्ञों का बहुत मान है। वैसे सामान्यतौर पर चू कि मनुष्यो मे विविध प्रकार

की प्रतिभायें न्यूनाधिक मात्रा में होती हैं, कुछ विशेष तरह का प्रतिभा का विकास ही सामान्यत एक मनुष्य में विशेष रूप में हो सकता है, अत विशेषज्ञता की तरफ मनुष्य तथा समाज का झुकाव होना स्वाभाविक है, लेकिन आधुनिक युग में मानव का सामाजिक जीवन इतना अधिक जटिल होता जा रहा है कि मनुष्य का किसी न किसी विषय के किसी न किसी अग-उपाग में विशेषज्ञ होना शायद उत्तरोत्तर अधिक आवश्यक होता जारहा है, पर इसके साथ ही आज के जमाने में विशेषज्ञता का खतरा भी उतना बढ़ गया है, जितना पहले कभी नहीं था। इसका कारण यही है कि मानव-जीवन के जटिलतर होते जाने के कारण विशेषज्ञता उसके बहुत छोटे अग को ही स्पर्श कर पाती है और अग या उपाग में विशेषज्ञ बनने में ही मनुष्य का इतना समय और शक्ति लग जाती है और उसकी रुचि तथा दृष्टि इतनी सीमित और सकुचित हो जाती है कि उसे समग्र मानव और सकल विश्व का ध्यान ही नहीं रह जाता। उदाहरण के लिये कोई डाक्टर मलेरिया का विशेषज्ञ है तो उसे हरेक बीमारी में मलेरिया का ही शक होता है और हरेक बीमारी में मलेरिया ही सूझता है। उसे समग्र मानव की समस्याओं का और विश्व की परिस्थिति का कोई चिंतन ही नहीं होता। वह मलेरिया का होकर ही जीता है और उसी में उलझ कर मर जाता है।

खादी-उत्पादन के काम के विशेषज्ञ को अपने क्षेत्र से आगे खादी-विक्री की बात नहीं सूझती, खादी के अतिरिक्त अन्य कप[ड़े] की क्या परिस्थिति है, वह यह नहीं जानता। वस्त्र के अलाव[ा] मानव जीवन में और चीजों का क्या स्थान है, वह नहीं समझता समाज और विश्व में उसका क्या कर्त्तव्य है—इसे सोचने की उसे न रुचि रहती है और न अवकाश। हमारा मानना है कि आ[ज] दुनिया विनाश के कगार पर आ खड़ी है, इसका बड़ा कार[ण]

विशेषज्ञता की यह दोष है—जिसमें विशेषज्ञों की आंखों पर ऐसा एक रंग का चश्मा चढ़ जाता है, जिससे सारी दुनिया उन्हें उसी एक रंग में रंगी हुई दिखाई देती है और आगे पीछे उन्हें कुछ नजर नहीं आता। यही हाल राजनीतिज्ञों का, वैज्ञानिकों का, वकीलों और अध्यापकों का होगया है। यही नहीं किसान, मजदूर तक भी बहुत सी जगह इसी एकांगी दृष्टि के, अपने समूह के संकुचित स्वार्थ के ऐसे शिकार होगये हैं कि वे अपने वर्ग के अतिरिक्त समाज के अन्य वर्गों के हित की दृष्टि से विचार ही नहीं कर पाते।

विशेषज्ञता का गुलाम नहीं

कार्यकर्ता को विशेषज्ञता के इस खतरे से बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। वह किसी विषय का विशेष जानकार हो, ज्ञान और कर्म की किसी विशेष शाखा का विशेष अनुभवी हो, इसमें कोई हर्ज नहीं, लेकिन वह विशेषज्ञता का गुलाम नहीं है। उसे तो जीवन का साधक बनना है, उसे समाज का समग्र सेवक बनना है। वह मजदूर के हित के समर्थन में किसान के हित का विरोधी नहीं हो सकता, कतवारी बुनकर के हित में उपभोक्ता का विरोधी नहीं हो सकता, गांव वालों के हित में नगरवालों का विरोधी नहीं हो सकता। वह तो समाज के समग्र हित का ही समर्थन कर सकता है और उसे विरोध करना है तो अन्याय का, शोषण का ही विरोध करना है, किसी वर्ग विशेष का नहीं।

समाज सेवा से व्यक्तित्व का विकास

कार्यकर्ता को समाज की सेवा करनी है, लेकिन वह भी एक दृष्टि से उसके अपने जीवन के संशोधन और विकास के माध्यम के रूप में ही। असल में उसे अपना विकास करना है, अपने जीवन की साधना करनी है, अपने विचारों को व्यापक बनाना है,

दो अनिवार्यताएँ

कार्यकर्ता एक जागरूक समाज सेवक है और मानव-समाज एक निरंतर विकासशील इकाई है। अत कार्यकर्ता इस विकास शील समाज की सेवा करना चाहता है तो उसके स्वय के लिये भी निरन्तर विकासशील बने रहना होगा। इसके लिये दो बातें अनिवार्य है।

सत्संग और अध्ययन

पहली बात तो यह है कि कार्यकर्ता का चिन्तन बढ़ना चाहिये। चिन्तन का विकास अध्ययन और सत्सग से होता है। सत्सग सयोग से प्राप्त होता है, लेकिन अध्ययन करना उसके हाथ की बात है। अत कार्यकर्ता को स्वाध्याय की ओर पूरा ध्यान देना चाहिये। जो व्यक्ति कार्यकर्ता बनजाने के बाद यह समझ लेता है कि अब तो खादी आश्रम, अबरकेन्द्र या कार्यालय आदि मे निश्चित काम करलेना ही काफी है उसको अध्ययन का समय या आवश्यकता अब नहीं है, वह बहुत बडी भूल कर रहा है। वह निरन्तर बदलते समाज की परिस्थितियों मे कभी सफल कार्य-कर्ता नहीं बन सकेगा। इसके विपरीत वह जल्दी या देर से अपने विचारों और कामों से पिछड जायगा और समाज-सेवा के क्षेत्र मे से या तो उसे पुराना और दकियानूसी समझकर अलग छोड़दिया जायगा, उसकी उपेक्षा करदी जायगी या उसे हटजाना

पड़ेगा। दोनों ही परिस्थितियां उसके लिये हानिकारक होंगी और एक तरह से उसकी सांस्कृतिक मृत्यु ही हो ------

सफलता का मापदण्ड

लेकिन स्वाध्याय का अर्थ कोई भी समाचार-पत्र या पुस्तक जो सामने आजाय पढ डालना नहीं है। बहुत से लोग ऐसा करते हैं, लेकिन इससे उन्हें कुछ लाभ नहीं होता। स्वाध्याय के लिये यह आवश्यक है कि अपने झुकाव की ओर ध्यान रखते हुये, अपने ज्ञान और आचरण के विकास की दृष्टि से निश्चित योजना एक या अधिक वर्षों की पहले से बनाली जाये। यह योजना बनाने में अपने से सहानुभूति और प्रेम रखने वाले बुजुर्ग या मित्र की सलाह लेली जाय और कार्यक्रम तय कर लिया जाय। कार्यकर्ता को उस कार्यक्रम पर डटे रहना चाहिये और उसकी पूर्ति का प्रयत्न करना चाहिये। स्वाध्याय की सफलता के लिये यह भी आवश्यक है कि कार्यकर्ता अपनी डायरी रखे और प्रतिदिन के स्वाध्याय में जो बातें अच्छी लगती हैं तथा खराब लगती हैं उन्हें डायरी में सक्षेप में लिखे और साथ में यह भी नोट करे कि उस दिन कौन से बुरे विचार उसके मन में आये या गलत आचरण उसके द्वारा हुआ, भविष्य में इस प्रकार के आचरण उसके द्वारा नहीं होंगे, इसका वह प्रयत्न करेगा। कार्यकर्ता के विचार और आचरण का उत्तरोत्तर विकास और उदात्तीकरण ही स्वाध्याय की सफलता का मापदण्ड होगा।

शरीर-श्रम

दूसरा अनिवार्यता शरीर-श्रम की है। आज हमारे समाज में चारों ओर विषमता, गरीबी और अज्ञान है, उसके मूल में सपत्ति तथा सत्ताधारी बुद्धिजीवियों द्वारा असहाय और कम समझ शरीर

श्रम करने वालों का शोषण है। भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाली सभी चीजों का निर्माण शरीर परिश्रम से ही होता है लेकिन आज बौद्धिकवर्ग ने इन सभी उपयोग की वस्तुओं पर अपना अधिकार जमा रक्खा है। वे इसका अधिक से अधिक उपयोग करते हैं और कम से कम वस्तुएं और अभाव श्रमिकों के हिस्से में आता है। यह स्थिति बदलनी चाहिये और बदलकर रहेगी। शोषणहीन समाज में हरेक व्यक्ति शरीरश्रम और बौद्धिक श्रम करने वाला होना चाहिये। शरीरश्रम शरीर की आवश्यकताओं की पूर्ति करने वाला होगा और बौद्धिकश्रम समाज की सेवा तथा मनुष्य की सांस्कृतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करेगा। इस स्थिति तक पहुँचने के पहले बीच का पडाव यह हो सकता है कि बौद्धिकश्रम और शरीरश्रम दोनों का बराबर मुआवजा दिया जाय और हर आदमी दोनों प्रकार के श्रम करने में पटु बने।

अगर समाज में यह न्यायपूर्ण स्थिति लानी है तो इसमें कार्यकर्ता को सर्व प्रथम पहल करनी होगी। इसके लिये यह जरूरी है कि हम श्रम को प्रतिष्ठा प्रदान करें और श्रमिक को सम्मान दें। इसके लिये प्रत्येक कार्यकर्ता को स्वयं श्रमिक बनना और अपने शरीर को श्रम करने का अभ्यासी बनाना है तथा अपने परिवार को इस दिशा में मोडना है। यह तभी हो सकता है जब कार्यकर्ता नियमित रूप से उत्पादक शरीरश्रम में कम से कम एक या दो घंटे लगावे और अपनी आमदनी का एक अंश उससे प्राप्त करे।

विकास की दिशा

अगर हमें वर्गहीन समाज का निर्माण करना है, और इस आदर्श के बारे में प्राय मतैक्य है, तो एक ही वर्ग समाज में रह सकता है और वह है श्रमिकवर्ग, क्योंकि श्रमिक के बिना समाज

का अस्तित्व ही असम्भव है। तो आज के बुद्धिजीवियों को निःसंकोच इसी वर्ग मे शामिल होना चाहिये। सारे समाज की समरसता के लिये भी यह आवश्यक है। समाज के भावी विकास की यही दिशा है। अतः समाज के विकास मे आगे रहने वाले कार्यकर्ताओं के लिये स्वयं को श्रमिक बनाने मे आगे बढना अनिवार्यतः जरूरी है।

स्वाध्याय

प्रत्येक मनुष्य के लिये स्वाध्याय आवश्यक है, कार्यकर्ता के लिये तो वह अनिवार्य है। वैसे कबीरदास के शब्दों में—जो कुछ देखूँ वह देव दर्शन, जो कुछ करूँ वह पूजा और जहा जहा फिरूँ वह तीर्थ-यात्रा—ऐसी स्थिति कार्यकर्ता के लिये भी आदर्श कही जा सकती है। लगभग ऐसी स्थिति आज कार्यकर्ता-शिरोमणि विनोबा की है, लेकिन वह तो सिद्ध की स्थिति है। वहा पहुँच कर स्वाध्याय भी अनावश्यक हो सकता है लेकिन साधक की और खास कर प्रारम्भिक साधक की यह स्थिति नहीं होती। उसने तो अपनी साधना का अभी आरम्भ ही किया है।

यह भी सही है कि केवल पुस्तकों का अध्ययन ही स्वाध्याय नहीं है, बल्कि देखना, सुनना, चलना, बोलना सभी कार्यों के द्वारा स्वाध्याय हो सकता है और सभी इन्द्रियो, मन तथा बुद्धि का अध्ययन मे उपयोग करना चाहिये, तभी स्वाध्याय सरलता, गम्भीरता और व्यापकता से हो सकता है। फिर भी यहा स्वाध्याय का विचार पुस्तकों के अध्ययन के सीमित अर्थ मे ही करेंगे।

स्वाध्याय का तरीका

यह स्वाध्याय दो प्रकार से हो सकता है। एक तो यह कि कार्यकर्ता अकेला किसी निश्चित पुस्तक को कुछ समय तक पढे।

पढते समय जो कुछ पढ रहा है उस पर विचार करता जाय और पढ़ना समाप्त करने के बाद कुछ समय तक, जो कुछ उस दिन पढ़ा है उस पर विचार करे तथा पुस्तक के आरम्भ से अब तक जो पढ़ा है, उस पर भी चिन्तन करे।

दूसरा यह है कि दो-तीन कार्यकर्ता या अधिक भी, मिलकर बैठें। एक व्यक्ति पुस्तक का एक एक वाक्य या अधिक पढे और फिर उस पर कुछ आपस मे चर्चा करें और फिर आगे बढे। दूसरे प्रकार के स्वाध्याय मे अधिक लोगों के ज्ञान और अनुभव का लाभ मिलता है, लेकिन यह तभी सम्भव है जब यह चर्चा जिज्ञासा और अनुभव के आदान-प्रदान तथा वर्णित विषय तक ही सीमित रहे, बहस और वाग्युद्ध का स्थान न ले और न सबंधित विषय से इधर-उधर जाकर, गप-शप बन जाय। यदि सम्मिलित स्वाध्याय मे यह सीमायें कायम न रखी जा सकें—इन्हें कायम करने की कोशिश भी अपने आप मे अच्छी ट्रेनिंग हो सकती है—तो लोग व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग स्वाध्याय करें, यही ठीक होगा।

आत्म-चिन्तन

स्वाध्याय के विषय तीन प्रकार के हो सकते है। पहला विषय आत्म-चिन्तन का है। प्रत्येक कार्यकर्ता को अपने बारे मे सोचने की आदत डालनी चाहिये। मैं कौन हूँ? मेरे जीवन का क्या उद्देश्य है? मुझ मे सद्गुणों की वृद्धि कैसे हो सकती है? दुर्गुणों की कमी कैसे की जाय? यह सब प्रत्येक कार्यकर्ता को अवश्य सोचना चाहिये और अपने स्वाध्याय का कुछ समय इस प्रकार के अध्ययन और चिन्तन मे अवश्य लगाना चाहिये। मंगल-प्रभात, अनासक्तियोग, गीता-प्रवचन, विवेक और साधना, जीवन-शोधन आदि पुस्तकें इस श्रेणी मे आती है। इनका नियमित अध्ययन

कार्यकर्ता करे। उसमें कुछ रास्ता उसे सूझे, या अनुभवी लोगों से चर्चा करने या सत्संग करने से उसकी बुद्धि में आवे तो कुछ समय मौन-पूर्वक ध्यान-चिन्तन और जप में भी देना चाहिये, लेकिन वह दम्भ और दिखावे के लिये ऐसा न करे। पुराने लोग करते आये हैं, इसलिये भी न करे। विवेक पूर्वक उसे ठीक लगे, सहज भाव से स्वयस्फूर्त हो तो ही करे।

इसके लिये प्रात काल का समय या सोने से पहले रात्रि का समय ठीक रहेगा। प्रात काल इस प्रकार का स्वाध्याय करने से धीरे-धीरे, दिन भर के लिये उसे जागरूक रहने का अभ्यास हो सकता है और रात्रि को इस प्रकार का स्वाध्याय, उसे दिन भर के अपने दोषों का विचार करने और रात्रि को शान्ति तथा समाधान पूर्वक सोने का अवसर प्रदान कर सकता है।

समाज-चिन्तन

स्वाध्याय का दूसरा विषय समाज-चिन्तन का है। जिस काल, देश, समाज और परिस्थितियों में हम अपनी जीवन-यात्रा चला रहे हैं, उसका ज्ञान हमें निरन्तर रखना चाहिये। यदि हमारा यह ज्ञान निरन्तर विकास शील और अद्यतन न रहा तो जिस समाज में हम रहते हैं, उस समाज में रहने के ही अयोग्य बन जायेंगे। कार्यकर्ता को तो समाज-चिन्तन में सबसे आगे रहना है, तभी वह कार्यकर्ता रह सकता है, इसलिये उसका समाज-चिन्तन तो यथा-सम्भव अधिक से अधिक व्यापक और गहरा होना चाहिए। मुहल्ले और गाँव से लेकर दुनिया भर में जो कुछ हो रहा है, उसकी जानकारी उसे होनी चाहिये। यह ठीक है कि उसकी जानकारी अपने गाँव के बारे में अधिक निकट और गहरी हो और दुनिया की जानकारी सामान्य हो, लेकिन यह आवश्यक है

कि वह गांव की छोटी सी घटना से भी अपरिचित न हो और दुनिया की बड़ी से बड़ी घटनाओं से भी अपरिचित न रहे।

इसके लिये आवश्यक है कि वह एक अच्छा दैनिक-पत्र अवश्य पढे और जिन सामाजिक-आर्थिक-राजनैतिक प्रवृत्तियों मे उसे विशेष रुचि हो, उससे सम्बन्धित कोई न कोई पुस्तक उसके स्वाध्याय का अग रहे। इसके लिये भोजन के पश्चात् आराम का कुछ समय या अवकाश का अन्य कोई समय निकाल लेना ठीक होगा, जो आधे घटे से लेकर एक घटे तक का हो सकता है।

कर्म-चिन्तन

स्वाध्याय का तीसरा विषय कार्य-चिन्तन का है। समाज-सेवा का जो क्षेत्र हमने लिया है या हमे मिल गया है, चाहे वह खादी का हो, हरिजन-सेवा का हो, या हिसाब-नवीसी का हो, टाइप करने का हो या अन्य कोई हो, हम समाज-सेवा के इस कार्य-क्षेत्र मे स्वयं को किस प्रकार अधिक क्षमतावान, जागरुक और योग्य बनाये रख सकते है, इस दृष्टि से हमारा स्वाध्याय चलना चाहिये।

इस गति शील दुनिया मे कार्य, विचार, पद्धति, सभी निरन्तर गतिशील है और फिर जो कार्यकर्ता पाच-दस या पन्द्रह बरस से अपने क्षेत्र मे हैं, उन्हें तो अपने कार्य-विषयक ज्ञान को बढाने और अद्यतन बनाने का अवश्य ही प्रयत्न करना चाहिये। नहीं तो वे अपने कार्यक्षेत्र मे "बूढे" पड़ जायेंगे और "बूढे" को 'कूडे" के अलावा और जगह कहा है? कार्यकर्ता को तो चिर-युवा होना चाहिये और यह तीन प्रकार का स्वाध्याय ही उसे चिर-युवा रख सकता है।

शरीर-श्रम

मनुष्य के व्यक्तिगत विकास और समाज के सदस्य की हैसियत से अपनी जिम्मेदारी निभाने की दृष्टि से स्वाध्याय जितना जरूरी और उपयोगी है, उतना ही शरीरश्रम भी। शारीरिक स्वास्थ्य और आरोग्य के लिये तो यह आवश्यक है ही, किन्तु मानसिक सन्तुलन, धीरज, कष्ट-सहिष्णुता, सहानुभूति के विकास के लिये भी, शरीरश्रम बहुत उपयोगी है और यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इन सद्गुणों की वृद्धि, मनुष्य के व्यक्तित्व और समाज की सेवा दोनों की दृष्टि से लाभदायक है। फिर शरीरश्रम, सामाजिक न्याय की दृष्टि से भी अपनाने योग्य है। मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भौतिक वस्तुओं से ही होती है और इन भौतिक वस्तुओं का उत्पादन या रूपान्तर, भौतिक परिश्रम के बिना नहीं हो सकता। इसलिये इस प्रकार के उत्पादन में हरेक का हाथ होना ही चाहिये क्योंकि निरपवाद रूप से हरेक मानव इनका उपयोग किये बिना नहीं रह सकता।

कार्यकर्ता की दृष्टि से कुछ प्रश्न

लेकिन कार्यकर्ता की दृष्टि से शरीरश्रम का विचार करते हैं तो कुछ प्रश्न खड़े हो जाते हैं। इनका स्पष्टीकरण निम्नलिखित उदाहरणों से हो जायगा —

(क) खादी-भण्डार के व्यवस्थापक के ऊपर एक लाख रुपये

वार्षिक की खादी बिक्री की जिम्मेदारी है। भण्डार मे खादी बेचने, सरकारी विभागों और संस्थाओं आदि मे खादी बिकवाने की व्यवस्था करने तथा अन्य व्यवस्था सम्बन्धी कामों में न केवल भण्डार के समय मे बल्कि पहिले-पीछे भी बहुत व्यस्त रहते है। रात को सोते है तो थकावट से चूर होकर सोते है। क्या उनके लिये अतिरिक्त श्रम आवश्यक है?

(ख) खादी-भण्डार के एक कार्यकर्ता प्रात १० बजे से लेकर ४ बजे तक खडे या बैठे खादी बेचने का काम करते रहते है और सध्या को थक कर घर पहुँचते है। क्या उनका यह परिश्रम शरीर-श्रम नहीं है?

(ग) खादी आश्रम के एक कार्यकर्ता सात-आठ या नौ घण्टे पूणी, सूत या थानों की खरीद बिक्री करते है या चार-छै मील पैदल या साइकिल पर चलकर इस काम के लिये आते जाते रहते हैं। क्या उनके लिये और शरीर-श्रम जरूरी है?

(घ) एक कार्यकर्ता भूदान, ग्रामदान आदि की पदयात्राओं मे घूमते हैं। छै-आठ मील पैदल प्रतिदिन चलते है। क्या उन्हे भी अतिरिक्त शरीरश्रम करना चाहिये?

(ङ) एक अन्य कार्यकर्ता है, जो दिन भर खादी के थान उठाने-धरने, रगने-बाधने आदि का काम करते है। क्या उन्हे भी अन्य किसी प्रकार का शरीर-श्रम करना जरूरी है?

इन पाचों उदाहरणों की तरफ सरसरी तौर पर देखने से तो यही लगेगा कि इन्हे शरीरश्रम करने की जरूरत नहीं है। लेकिन जरा गहराई से विचार करेंगे तो और ही गुल खिलेगा।

दृष्टिकोण में परिवर्तन

शरीरश्रम क्यो करना चाहते है? समाज मे बुद्धिजीवी और श्रमजीवी, इस प्रकार के भेद बन गये है, वर्ग बन गये है। बुद्धि-

जीवी की प्रतिष्ठा भी अधिक है और वह अपने काम का मुआवजा भी श्रमजीवी के मुकाबिले मे अधिक लेता है। समाज पर सत्ता भी उसी की है। हमें समाज मे क्रान्ति करनी है अर्थात् समाज के इन मूल्यों को बदल देना है। समाज मे शरीरश्रम तो आज भी बहुत होता है, हमेशा होता आया है, उसके बिना समाज का व्यवहार ही नहीं चल सकता, लेकिन श्रम करने वाला सदा शोषित, शासित और लाछित रहता आया है। इसी को हमे दूर करना है। समाज मे श्रमिक श्रम करते रहे है, मजबूरी से, अपने आपको मजबूर मानकर और हमेशा सपने देखते रहे हैं, अपने लिये और अपने लिये नहीं तो कम से कम अपने बच्चों के लिये, कि वे इस प्रकार के श्रम से मुक्त होकर बाबू बन सके तो अच्छा रहे। इस सारे दृष्टिकोण मे आमूल परिवर्तन करना है।

समाज मे से श्रमजीवी और बुद्धिजीवी का भेद मिट जाना चाहिये। समाज मे एक ही वर्ग रहना चाहिये और वह है श्रमिक वर्ग। सबको उत्पादक शरीरश्रम मे भाग लेना चाहिये। बुद्धि का उपयोग समाज की सेवा के लिये हो। प्रत्येक मनुष्य अपनी शक्ति भर काम करे और आवश्यकता भर ले। अर्थात् समाज से कम से कम ले और समाज को अधिक से अधिक दे। उत्पादन के साधन समाज के हों-भूमि भगवान की और सम्पत्ति समाज की। हमारा श्रम समाज के लिये अधिक से अधिक उपयोगी, कुशल और क्षमतावान हो-इसमे हम अपनी बुद्धि का उपयोग करें। ये नये मूल्य हमे समाज मे स्थापित करने है तो हम में से हरेक को विवेकपूर्ण, उत्पादक शरीरश्रम को अपनाना होगा। और चूंकि कार्यकर्ता इस समाज-क्रांति का वाहक है, इसलिये उसे सबसे पहले और समग्र रूप मे इसे अपने विचार और जीवन मे ग्रहण करना होगा।

विवेकपूर्ण उत्पादक शरीर-श्रम

अब हम फिर एक बार उन पांचों उदाहरणों पर दृष्टि-पात करें :—

(क) खादी भण्डार का व्यवस्थापक बुद्धिजीवी है, अतः उसे निश्चित रूप से खेती, बागवानी या कताई-बुनाई में नियमित रूप से अपने समय का कुछ अंश लगाना ही चाहिये। आदर्श यह है कि कम से कम आधा समय वह इस प्रकार के शरीरश्रम में लगाये और आधा व्यवस्था में। लेकिन आरम्भ कम से भी हो सकता है।

(ख) खादी बेचने का काम उत्पादक शरीर-श्रम नहीं है। वह व्यापार है और व्यापार अधिक से अधिक समाज-सेवा हो सकती है, जब उसमें से व्यक्तिगत लाभ-हानि का अंश निकल जाता है। इसलिये खादी विक्रेता के लिये विवेकपूर्ण उत्पादक शरीरश्रम इस काम के अतिरिक्त करना जरूरी है।

(ग) खादी आश्रम के कार्यकर्ताओं को भी अपने उपयोग के लिये कपडे या शाक-भाजी के उत्पादन में समय लगाना चाहिये, नहीं तो उनका कार्य जड-परिश्रम ही रह जायगा। हां, यह हो सकता है कि जब वे बाहर रहें तो उस दिन उस प्रकार का परिश्रम करने का अवसर या समय न रहे, लेकिन आश्रम में रहें तो बराबर उनका यह क्रम चलना चाहिये।

(घ) जो कार्यकर्ता पदयात्रा में रहते हैं, उनके लिये तो यह अनिवार्य ही है कि वे जिस गांव में जाय, वहां अवश्य ही उत्पादक शरीर-श्रम का या श्रम के जरिये सफाई का काम करें, अन्यथा वे केवल उपदेशक और उपभोक्ता ही रह जायेंगे। जिस शोषण और अन्याय को वे जबान से दूर करने के लिये कहते हैं, अपने जीवन से वे उसी शोषण के पोषक सिद्ध होंगे।

(ङ) जो कार्यकर्ता दिन भर संस्थाओं में शरीरश्रम सम्बन्धी सामान्य काम करते हैं, उनके लिये भी आवश्यक है कि वे सामूहिक कताई जैसे श्रम में अवश्य भाग लें। वे एक ओर वस्त्र स्वावलम्बन या अन्न स्वावलम्बन की दिशा में आगे बढेंगे, दूसरी ओर बुद्धिजीवी तथा श्रम-जीवी के भेद को दूर करने में सहायक होंगे। तीसरी ओर श्रम के बड़ापन और आवश्यकता को समझेंगे और अपने काम में तेजस्विता और विवेक ला सकेंगे।

तेजस्विता, स्वावलम्बन और सहयोग-ये तीन गुण कार्यकर्ताओं में विकसित होने चाहिये और उनके विकास के लिये प्रत्येक कार्यकर्ता को त्रिविध स्वाध्याय तथा विवेकपूर्ण उत्पादक शरीरश्रम को अपनाना अत्यन्त आवश्यक है।

ही गौण वस्तु है। वह अपने जीवन तथा समाज के जीवन विकास और उन्नति की दृष्टि से ही इस क्षेत्र मे आया है और उसके तथा समाज के जीवन का विकास उनके परिवार के जीवन-विकास के अभाव से या उसके विपरीत दिशा मे चलने पर होना कठिन है। रचनात्मक कार्यक्षेत्र केवल रोजगार प्राप्त कर लेने का क्षेत्र नहीं है और न यह केवल आठ-सात घन्टे तक काम कर लेने मात्र की जगह ही है, यह तो पूरे चौबीस घंटे का चिंतन-क्षेत्र है। इसमें न तो कार्यकर्ता के व्यक्तिगत जीवन और सार्वजनिक जीवन—इस प्रकार दो भेद किये जा सकते हैं, जिसमे यह कहा जा सके कि कार्यकर्ता के व्यक्तिगत जीवन से समाज को या संस्था को क्या मतलब है, संस्था कार्यकर्ता को निर्वाह व्यय देती है और उससे आठ घंटे काम ले लेती है, फिर संस्था को कार्यकर्ता के निजी जीवन मे कोई हस्तक्षेप करने का अधिकार या आवश्यकता नहीं है, और न यह कहा जा सकता है कि कार्यकर्ता संस्था के अनुशासन या नियम को पालन करता है—यह काफी है, और कार्यकर्ता के परिवार से यह अपेक्षा करना अनुचित होगा कि वह भी उसी आदर्श पर चले और उन्हीं नियमों का पालन करे, जो कार्यकर्ता मान्य करता है। अगर रचनात्मक कार्य का उद्देश्य नये समाज का—शोषणहीन और वर्गहीन समाज का निर्माण करना है तो उसमें न व्यक्तिगत और सामाजिक जीवन का अलगाव ठीक माना जा सकता है और न कार्यकर्ता के जीवन तथा उसके परिवार के जीवन का। रचनात्मक कार्य का लक्ष्य ही यह है कि व्यक्ति और समाज, दोनों अधिकाधिक द्रुतगति से नये समाज की ओर अग्रसर हों।

दूसरी बात यह कि नवसमाज-रचना की ओर अग्रसर होने की सारी कार्य पद्धति केवल अहिंसक होगी, मैत्रीपूर्ण तथा प्रेमपूर्ण होगी। इसका अर्थ यह होता है कि कार्यकर्ता मे अपने परिवार को

अपने साथ लेने की, अपने सारे पारिवारिक जीवन मे वे परिवर्तन लाने की, जिन्हें वह समाज मे लाना आवश्यक मानता है, उन मूल्यों को परिवार में दाखिल करने की जिन्हें समाज मे दाखिल करना चाहता है, पूरी तडप और दृढता होगी, लेकिन इन्हें दाखिल करने मे वह समझाने-बुझाने, विचार परिवर्तन और हृदय परिवर्तन के ही तरीके काम मे लेगा। ऐसा करने मे वह अपने मानसिक, वाचिक, और कायिक सतुलन को नहीं खोयेगा और अपने प्रयत्न को लगातार जारी रक्खेगा। कहा जा सकता है कि कार्यकर्ता समझा-बुझाकर हार जाय और अपने परिवार के लोगों मे कोई परिवर्तन करने मे असमर्थ रहे तो क्या हो? इस परिस्थिति के तीन हल हो सकते हैं। एक तो यह कि कार्यकर्ता को अपने व्यक्तिगत जीवन के त्याग और तपस्या की मात्रा को उग्रतर करते जाना होगा। इसी से परिवार के लोगों के हृदय पर असर पडेगा और वे धीरे-धीरे कार्यकर्त्ता के आदर्श को अपनाने की ओर बढेंगे। दूसरी बात यह है कि कार्यकर्ता के अपने परिवार के लोगों के साथ सम्पर्क की निकटता प्राय' कम रहती है। जैसे जैसे वह सार्वजनिक जीवन के क्षेत्र मे आगे बढता है, वैसे वैसे उसके पास अपने परिवार के लोगों के साथ मिलकर रहने का समय उसे उत्तरोत्तर कम मिलता है। परिणाम यह होता है कि कार्यकर्ता अपने विचारों की अलग दुनिया मे विचरण करता है और परिवार के लोग उसी दुनियादारी के अपने अलग ससार मे रहते हैं और इन दोनों मे कोई सामान्य स्तर और सम्पर्क नहीं रहता। अगर ऐसा है तो कार्यकर्त्ता को अपने परिवार के साथ सजीव सम्पर्क के अधिक मौके और सामूहिक स्वाध्याय तथा विचार-विनिमय की कुछ न कुछ विशेष व्यवस्था करनी चाहिये। इस से विचार-परिवर्तन मे मदद मिलेगी।

ऐसा भी हो सकता है कि इस सारे प्रयत्न और साधना के बावजूद परिवार में प्रेम तथा सहयोग का वातावरण विकसित न हो तो कार्यकर्ता को सोचना होगा कि उसका और परिवार के बीच का संबंध पारस्परिक त्याग और हित चिंतन के आधार पर न होकर कहीं आपत्ति, स्वार्थ, परवशता और आलस्य के आधार पर तो नहीं है। अगर ऐसा लगे तो कार्यकर्ता के लिए शायद यह आवश्यक हो जाय कि परिवार को वह आर्थिक सहायता तो दे, लेकिन उसके साथ अपने संबंध तोड़ले और दोनों पक्षों को अपने अपने विचार और आदर्श के अनुसार आगे बढ़ने की स्वतन्त्रता मिल जाय। अन्तिम परिस्थिति में आश्रित परिवार भरण-पोषण पाने का अधिकारी हो सकता है, लेकिन किसी के विकास की स्वतन्त्रता को अवरुद्ध करने का अधिकार नहीं प्राप्त कर सकता। यह तो स्पष्ट है ही कि व्यवहार में ऐसी स्थिति अत्यन्त अपवाद रूप में ही किसी परिवार की होगी, लेकिन विचार की दृष्टि से कार्यकर्ता को किस सीमा तक जाना हो सकता है, इसका उल्लेख यहां किया गया है।

लेकिन सामान्यतः भारतीय परिवारों में परिस्थिति दूसरे छोर से आरम्भ होनेवाली होती है। परिवार का अध्यक्ष कमानेवाला पुरुष होता है और वही अधिनायक के तौर-तरीकों और भावना से परिवार का शासन करता है। सामान्यतः रहन-सहन, खान-पान, विचार-आचार, सभी में उसका झुकाव निर्णायक होता है और स्त्रियों तथा बालकों की स्थिति लगभग दासों की सी होती है, उनके अपने निर्णय, पसंद, आत्मविकास और स्वाधीनता को बहुत थोड़ा अवकाश रहता है। रचनात्मक कार्यकर्ता राजनैतिक और आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र, सत्य और अहिंसा का समर्थक होता है, लेकिन परिवार में वह विशुद्ध अधिनायकता चलाना चाहता है। वह चाहता है कि परिवार के लोग उसके आराम और

सुविधा का प्रयत्न करते रहें, एक-एक पैसे के लिए उसका मुँह ताकते रहें। स्त्रियों की वफादारी, संतान की आज्ञाकारिता और उसका अपना हुक्म—इन तीनों को वह स्वाभाविक मानता है।

कार्यकर्ता को सोचना होगा कि यह परिस्थिति कहां तक उचित, न्याय और समतापूर्ण है? क्या वह कमाकर लाता है इसीलिए स्त्रियों और बालकों पर उसका निर्विरोध हुक्म चलना ही चाहिये—यह वाजिब है? क्या कमा कर लाना जितना बड़ा और महत्त्वपूर्ण काम है, क्या किफायतशारी से खर्च करना उतना ही महत्त्वपूर्ण नहीं है? क्या त्याग, परिश्रम और आज्ञाकारिता केवल बूढ़ों, स्त्रियों और बालकों की ही जिम्मेदारी है? इन प्रश्नों पर कार्यकर्ता को खुले दिल और दिमाग से विचार करना चाहिये और जहां जहां उसे स्नेह और पारस्परिक त्याग, सहयोग और समानता की कमी लगे, वहां वहां उसकी पूर्ति करने का प्रयत्न करना चाहिए। जिस हद तक कार्यकर्ता और उसके परिवार के बीच में सहयोग, समानता और स्वतन्त्रता की यह भावना बढ़ेगी तथा आसक्ति, अधिनायकत्व या गुलामी घटेगी, उसी हद तक कार्यकर्ता का व्यक्तिगत और पारिवारिक जीवन सुखी होगा, उसको अपने जीवन में शांति और समाधान की प्राप्ति होगी और उसका सार्वजनिक जीवन भी सतेज और उन्नत होगा।

जीवन निर्वाह

कार्यकर्ता चाहे समाज के आमूल परिवर्तन के काम में लगे हों, सुधार के काम मे या सेवा के काम मे, अगर वे पूरे समय के कार्यकर्ता है तो अपना निर्वाह-व्यय समाज से ही प्राप्त करना होगा। सर्वोदय विचार की दृष्टि से यह स्वीकार करने मे बहुत कम लोगों को आपत्ति होगी कि मनुष्य की भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति भौतिक वस्तुओं से ही होती है और उन्हें प्राप्त करने या तैयार करने मे भौतिक श्रम लगता है अत हरेक को अपने शरीर श्रम से निर्वाह करना चाहिये और बुद्धि का उपयोग समाज की सेवा मे होना चाहिये। लेकिन इस आदर्श तक न पहुचे तब तक नकद या वस्तु के रूप मे समाज से निर्वाह के साधन प्राप्त करने होंगे, इसमे कोई सदेह नहीं। अत पहली बात तो यह है कि पूरे समय के कार्यकर्ता को यदि आवश्यक हो तो समाज से अपना और अपने आश्रित परिवार का निर्वाह-व्यय लेने मे किसी भी प्रकार की हीनता या सकोच नहीं होना चाहिये। और न समाज के लोगों को जिनका सबध किसी भी रूप में उन्हें ये साधन देने मे आता हो, कार्यकर्ता के प्रति इस कारण से कोई हीनता की भावना अपने मनमे आने देनी चाहिये। बल्कि वह कार्यकर्ता अपने व्यक्तिगत व पारिवारिक मुनाफे का कोई काम न करके समाज के काम मे अपनी सारी शक्ति और चितन लगा रहा है, इसलिये उसके प्रति आदर और कृतज्ञता का भाव ही अनुभव करना चाहिये।

भावना और दृष्टिकोण

अब प्रश्न यह है कि निर्वाह-व्यय के निर्धारण करने मे कार्यकर्ता की भावना और दृष्टिकोण क्या हो ? इस सम्बन्ध मे पहली बात तो यह है कि कार्यकर्ता समाज से जो प्राप्त करता है वह वेतन या नौकरी नहीं है, वह निर्वाह-व्यय है। इसका अर्थ यह है कि कार्यकर्ता को काम के परिमाण, प्रतिष्ठा या उत्तरदायित्व के आधार पर न्यूनाधिक वेतन का विचार नहीं करना चाहिये। कार्यकर्ता घटों या काम के परिमाण का मजदूर नहीं है। कार्यकर्ता ने अपना सारा समय समाज के लिये अर्पित कर रखा है। जितना समय उसे अनिवार्य रूप से अपने निजी कार्य मे या परिवार के काम मे लगाना पडता है, उतना वह मजबूरी से लगाता है। उसे कम करने की कोशिश मे रहता है और अधिक से अधिक समय अपने समाज-सेवा के कार्य मे लगाता है तथा उसे बढाने की कोशिश करता है। साथ ही उसका चिंतन और विचार तो सदा ही अपनी समाज-सेवा को अधिक व्यापक और गहरा बनाने की तरफ चले—यह प्रयत्न और साधना भी चलती है। कार्यकर्ता के जीवन का उद्देश्य समाज का हित साधन है और उसके लिये वह सक्षम बना रहे और जो परिवार उसके आश्रित है, उसे समाज के उपयुक्त बनाने मे प्रयत्नशील हो सके, इसलिये वह समाज से अपना निर्वाह-व्यय प्राप्त करना चाहता है और ऐसा करना वह अपना अधिकार मानता है तथा साथ ही जितना समाज से मिल जाता है, उसी मे वह कृतज्ञता तथा सतोष अनुभव करता है।

दृष्टिकोण के फलितार्थ

इस दृष्टिकोण के कुछ फलितार्थ होते हैं, वे सक्षेप मे

कार्यकर्त्ताओं के साथ

"मारे कार्यकर्ता समाज के सेवक है। उनमे ऊँचे-नीचे, छोटे-बडे, अधिकारी-कर्मचारी तथा स्वामी-सेवक की कोई श्रेणी या भेद नहीं होना चाहिये।

२ प्रत्येक कार्यकर्ता पूरे समय का समाज-सेवक है। उसका चिन्तन-सर्वस्व समाज-सेवा का होना चाहिये। जितना समय उसे पारिवारिक या व्यक्तिगत कार्य मे देना होता है, उतना मजबूरी से ही देना है। अत छुट्टियों या काम के घटों का उसके लिये कोई अर्थ नहीं है। वह सदा समाज को अधिक से अधिक देने में और उससे कम से कम लेने मे प्रयत्नशील होगा।

३ उसका निर्वाह-व्यय एक निश्चित सामान्य स्तर पर अपने तथा अपने आश्रित परिवार के भरण पोषण की दृष्टि से है। अत उसमे श्रेणी भेद या वार्षिक तरक्की का कोई स्थान नहीं होना चाहिये। हा, स्वय तथा आश्रितो की सख्या, उम्र तथा परिस्थिति आदि का सिंहावलोकन और उसके लिये उसमे सशोधन समय-समय पर होना चाहिये।

४ इसमे बीमा, प्रॉवीडेंट फड या पैंशन को स्वाभाविक रूप से कोई स्थान नहीं हो सकता। कार्यकर्ता की बीमारी और आयु के कारण अशक्तता की स्थिति में समाज को उसकी सहायता की व्यवस्था निश्चित करनी चाहिये और मृत्यु की अवस्था मे आश्रयहीन सदस्यों की व्यवस्था समाज को करनी चाहिये।

वर्तमान स्थिति

यह परिस्थिति कार्यकर्ता और समाज दोनों की दृष्टि से आदर्श कही जा सकती है, लेकिन यह मानना होगा कि इस प्रकार की स्थिति न आज कार्यकर्ता की है और न समाज की है।

आज के बहुत से कार्यकर्ता —

जीवन निर्वाह

१ अपने आपको केवल वेतन का नौकर मानते है।

२ अफसर और मातहत के भेद को मान्य करते है।

३. पद के अनुसार वेतन की अपेक्षा करते है।

४. आठ या सात निश्चित घटो मात्र का नौकर मानते है।

५. अवकाश और पेंशन वगैरह को अपना हक मानते है।

आज का समाज प्राय —

१ कम से कम वेतन पर कार्यकर्ता रखना चाहता है।

२ पद और श्रेणी भेद मान्य करता है। अफसर और मातहत मे वेतन, व्यवहार तथा कार्य आदि की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई खाई स्वीकार करता है।

३ अधिक से अधिक काम और कम से कम सुविधा देना चाहता है। इसमे कोई रोक लगती है तो उसे अनिच्छापूर्वक तथा एहसान के रूप मे स्वीकार करता है।

४. जितने कम से कम कार्यकर्ताओं से काम चल सके चलाने की कोशिश करता है।

कार्यकर्ताओं और संस्थाओं की जिम्मेदारी

इससे स्पष्ट है कि आज तो कार्यकर्ता और समाज दोनों मे ही इस सबध मे दृष्टि स्पष्ट नहीं है। दोनों मे इसके स्पष्टीकरण की आवश्यकता है लेकिन कार्यकर्ता ही समाज के चितन का नेता है। अत सबसे पहले उसे स्वय अपने आदर्श तथा उस तक पहुँचने की मजिलों के बारे मे स्पष्ट ज्ञान होना चाहिये। तभी वह स्वय भी इस मार्ग पर अग्रसर हो सकता है और समाज को भी इस दिशा मे बढ़ा सकता है। इस मार्ग पर चलने के लिये एक ओर कार्यकर्ताओं को अपने व्यक्तिगत और पारिवारिक

जीवन में, कार्यकर्ताओं के आपस के व्यवहार और आचरण में समुचित परिवर्तन करने की आवश्यकता है तथा साथ ही कार्यकर्ताओं की संस्थाओं से भी इस बात की अपेक्षा है कि वे इस दिशा में अन्य सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक संस्थाओं की तुलना से अधिक तेजी से और अधिक सहानुभूति से आगे बढ़ेंगी।

आवश्यक कदम

इस दिशा में आगे बढ़ने के लिये कुछ कदम हो सकते हैं जिनसे आदर्श की ओर प्रगति की जा सकती है —

१. कार्यकर्ता अपने आप को समाज का सेवक मानें, वैतनिक नौकर नहीं। संस्थायें भी कार्यकर्ताओं को अपना अंग मानें, केवल वेतनभोगी कर्मचारी नहीं।

२ कार्यकर्ता समाज से सीमित निर्वाह-व्यय की अपेक्षा रखें। जिनका परिवार बहुत बड़ा हो या जो रहन सहन के सामान्य स्तर तक न आ सकते हों, तो वे कार्यकर्ता का कार्यक्षेत्र छोड़कर समाज के अन्य अधिक आमदनी वाले काम करलें।

३ निर्वाह-व्यय की विषमता के क्षेत्र को उत्तरोत्तर कम किया जाय। अनिश्चित तथा सैंकड़ों गुने अंतर को निश्चित रूप से कम करके, पांच छ गुने पर ले आना चाहिये और फिर कम करके तीन गुने पर लाने का प्रयत्न करना चाहिये।

४ कार्यकर्ता अपने सारे समय, सारी शक्ति और सारे चिंतन को समाज का मानें और समाज को अपना अधिक से अधिक देने में जरा भी संकोच न रक्खे।

५. संस्थाएं कार्यकर्ताओं की सारी आवश्यकताओं को देखने, समझने और उन्हें सामूहिक शक्ति से दूर करने के प्रयत्नों को अधिक व्यापक, अधिक गहरे और अधिक बलशाली बनाती जाय।

६ कार्यकर्ता और संस्थाएं एक दूसरे के अभिन्न अंग बनकर सोचें और काम करें।

७ कार्यकर्ता अपने से कम निर्वाह व्यय पाने वालों की तुलना में अपनी मजबूरी मानकर नम्र रहें और उन्हें अपने से आगे समझें। साथ ही अपने से अधिक निर्वाह-व्यय पाने वालों की मजबूरी को भी सहानुभूति पूर्वक समझें और उनके प्रति बुराई और द्वेष की भावना से बचें।

८ अपने आदर्श तक न पहुँच पाने की स्थिति में एक दूसरे को सहानुभूति पूर्वक समझें और प्रेम पूर्वक सहन करें। पारस्परिक सहयोग से आगे बढ़ने की कोशिश करें। एकता और पारिवारिक भावना बढ़ायें—फूट, स्पर्धा और बुद्धिभेद से बचें।

संतान-मर्यादा

कार्यकर्ता समाज-सेवा या समाज क्रांति के लिये कृत-संकल्प और समर्पित व्यक्ति है। वह जैसे तैसे नहीं जीता है बल्कि अपने जीवन का जो उद्देश्य उसने स्वेच्छा तथा विवेकपूर्वक निश्चय किया है उसकी पूर्ति के लिये वह अपने जीवन को चलाता है और उत्तरोत्तर वह अपने जीवन को उसके अनुकूल बनाने में प्रयत्नशील रहता है। कार्यकर्ता सामाजिक प्राणी होने के नाते स्वाभाविक रूप से वह परिवार से सम्बन्धित रहता है। अपने माता पिता के परिवार में जन्म लेता है। वयस्क होकर अपना परिवार बनाता है और फिर अपनी संतान को अपने पैरों पर खडे होकर परिवार बनाने में मददगार होता है। चूंकि मनुष्य का परिवार से इतना गहरा सम्बन्ध रहता है, इसलिये सामान्य तौर पर मनुष्य अपना जीवन परिवार–चिन्ता में ही बिता देता है और इसके आगे सोचने और करने की बात नहीं सोचता, लेकिन जिन लोगों ने परिवार की इस आरंभिक सामाजिक इकाई से आगे सोचने और करने का निश्चय किया है, उनके लिये परिवार भी अपने अधिक विशद् सामाजिक उद्देश्य की पूर्ति में साधन और सहायक बनना चाहिये।

वसुधैव कुटुम्बकम्

परिवार जीवन का साध्य नहीं हो सकता। इसका अर्थ यह नहीं है कि कार्यकर्ता अपने परिवार की उपेक्षा करेगा परिवार

में प्रेम नहीं करेगा, उनकी सेवा और पालन-पोषण का अपना कर्तव्य नहीं निभाएगा। अगर वह ऐसा करता है तो वह अपने जीवन के उद्देश्य से च्युत होगा क्योंकि परिवार समाज की सबसे पहली और सबसे निकट की इकाई है। उसकी अवहेलना करके वह समाज-सेवा में आगे नहीं बढ़ सकता लेकिन यह भी सत्य है कि वह अपने परिवार तक ही सीमित नहीं रहेगा, वह परिवार-मोह में नहीं पड़ेगा, बल्कि वह अपने 'परिवार' के दायरे को बढ़ाता जायगा और चिंतन के क्षेत्र में वह विश्व को 'परिवार' मानेगा तथा कर्म के क्षेत्र में अपने परिवार से आगे के क्षेत्र, वर्ग या समूह से लेकर जितना आगे बढ़ सकेगा, अपनी कार्यशक्ति की मर्यादा के अनुसार आगे बढ़ता जायगा।

जीवन-उद्देश्य

ऐसी स्थिति में यह आवश्यक होगा कि कार्यकर्ता संकुचित 'पारिवारिकता' से ऊपर उठे और अपनी पारिवारिक जिम्मेदारियों को सीमित करे। पुराने जमाने की आश्रम-कल्पना इसी का परिणाम थी। उस जमाने का जीवन-उद्देश्य-ईश्वर अथवा आत्मा की प्राप्ति था—आज का जीवन उद्देश्य समाज-सेवा या समाज-क्रान्ति है। यह सभी समान रूप से सूक्ष्म उद्देश्य है जिनकी ओर प्रगति करने के लिये मनुष्य की भौतिक सुविधाओं और सुखों का संयम अनिवार्य है। इसलिये यदि कार्यकर्ता की दृष्टि जीवन उद्देश्य की ओर प्रगति पर है तो उसे संतान मर्यादा का विचार करना ही होगा।

मर्यादा अपेक्षित

यह विचार अन्य दृष्टियों से भी आवश्यक है। अगर कार्यकर्ता अपने जीवन में निश्चितता लाना चाहता है, तो निश्चय ही उसके जीवनकाल में ही उसकी संतान स्वावलम्बी होजाय—यह वह चाहेगा। हम अपने देश में मानव-जीवन की मर्यादा ६० वर्ष की

भी मानलें तो भी यह आवश्यक है कि चालीस वर्ष की अवस्था के बाद उसके कोई सन्तान उत्पन्न नहीं होनी चाहिये ताकि उसकी साठ वर्ष की अवस्था तक तो वह अपने पैरों पर खड़ी हो ही जाय। दूसरी बात यह कि कार्यकर्ता की आय निश्चित रूप से कम ही होती है और कम ही रहने वाली है और जैसे २ समाज अधिक न्यायपूर्ण स्थिति की ओर बढ़ता जायगा, शोषण कम होता जायगा तो आज की किरायें, ब्याज, सट्टे और मुनाफे की आमदनी कम होती जायगी और भविष्य में रहने सहने का स्तर ऊंचा होता गया तो वैसे अधिक सतान पालन कठिन होता जायगा। अधिक सतान युक्त परिवार का व्यक्ति वैसे भी समाज-सेवा के कार्य में शक्ति और समय कम लगा पाता है, पारिवारिक सुख-शांति का भी अनुभव प्राय कम कर पाता है। समाज की वर्तमान, आर्थिक और भौतिक परिस्थितियां भी अनुकूल नहीं है, अत इन सब दृष्टियों से मर्यादा वाञ्छनीय है और यह मर्यादा दो सतान की—आदर्श रूप में एक पुत्र और एक पुत्री की मानी जा सकती है।

इस मर्यादा को कैसे निभायें? कुछ विचारकों का यह कहना है कि आज की परिस्थिति म सतान होनी ही नहीं चाहिये। पुरुष-स्त्री भोग की दृष्टि से नहीं, बल्कि समाज सेवा और आत्म-विकास में सहयोग की दृष्टि से साथ रहें भाई-बहिन की तरह ही आजन्म ब्रह्मचारी रहें। लेकिन आज की परिस्थितियों से इस ओर समाज को बढ़ाने के लिये भी सतान-मर्यादा पर पहले आना होगा। इसलिये यही उचित प्रतीत होता है कि दो सतान उत्पन्न होजाने के बाद कार्यकर्ता पति-पत्नी दोनों समझ बूझ कर ब्रह्मचर्य व्रत धारण करलें और अपना जीवन समाज-सेवा तथा अपनी सतान को योग्य बनाने में लगायें। इसके बिना उनके जीवन की साधना आगे नहीं बढ़ेगी और व्यक्ति तथा समाज जीवन के सच्चे सुख, सतोष और समृद्धि का भी यही एक मार्ग है। लेकिन यदि

[illegible]

उन्हे ऐसा करना शक्य न लगता हो और बारबार प्रयत्न करके भी वे दूर न रह पाते है तो मजबूरी के उपाय के रूप मे उन्हें संतान-निरोध के वर्तमान स्थायी तरीकों को भी काम मे लेने से नहीं हिचकना चाहिये। साथ ही यह प्रयत्न भी निरन्तर जारी रखना चाहिये कि अवधि उत्तरोत्तर बढती जाय और वे आजीवन ब्रह्मचर्य का व्रत ले सकें।

जागे तभी सवेरा

अब ऐसे कार्यकर्ताओं का प्रश्न आता है जिनकी संतान-संख्या इस समय भी मर्यादा से अधिक है। उन्हे तो 'जागे तभी सवेरा' इसी कहावत के अनुसार चलना चाहिये। संतान-मर्यादा के अभाव में जो स्थिति कार्यकर्ताओं की आज बन रही है, वह हम सबके सामने है। पचास वर्ष की अवस्था तक भी संतानोत्पत्ति होते जाना कार्यकर्ता के लिये लज्जाजनक तो है ही, साथ ही वह उनका भरण पोषण और शिक्षण मे भी उन्हे समुचित रूप से गार्हस्थ्य-जीवन मे प्रविष्ट नहीं करा पाता. बिल्कुल असमर्थ रहता है और मरते समय पत्नी पर नाबालिग और परावलंबी सन्तानो का बोझ छोड जाता है, जो उसे कोसते रहते है। ऐसा कार्यकर्ता समाज का सेवक नहीं समाज का भार ही बनता है। स्वयं अपने जीवन-उद्देश्य की पूर्ति मे असफल रहता है और दूसरो के जीवन को बिगाड डालने का दोषी ठहरता है।

यहा यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि कार्यकर्ता को एक पत्नीव्रती होना ही चाहिये। यदि वह इतना भी नहीं है तो वह कार्यकर्ता की श्रेणी मे आने लायक तो नहीं है, बल्कि कार्यकर्ता शब्द को भी लाछित करने वाला है। आशा है, कि अपने आपको 'आधुनिक और अत्याधुनिक' कहने और समझने वाले कार्यकर्ता जरा गहराई से इस पर विचार करेंगे।

सार्वजनिक संस्थाएँ

अधिकाश कायकताओ का सबध सावजनिक सस्थाओं से रहता है। सिद्धांतरूप से प्राय कहा जाता है कि कार्यकर्ता को अपने श्रम के द्वारा स्वावलम्बी बनना चाहिये और स्वावलम्बी रह कर समाज सेवा मे अपनी शक्ति लगानी चाहिये। विनोवाजी ने सन् १६५७ के आरभ मे भूदान-ग्रामदान आदोलन मे लगे कार्यकर्ताओं को निधिमुक्त और तत्रमुक्त होने का आवाहन किया और आदोलन का सबध गाधी स्मारक निधि से तोड दिया। फिर भी ऐसे कार्यकर्ता इने गिने ही होगे जो श्रम के आधार पर स्वावलवी बने हों। उन मे से अधिकाश का सस्थाओं से ही आर्थिक सबध जुडा। फिर खादी-ग्रामोद्योग, हरिजन-सेवा, बुनियादी तालीम आदि प्रवृत्तियों मे लगे हुए कार्यकर्ता तो पहले से ही सबद्ध हैं और आज भी स्थिति वैसी ही है। अत कुल मिला कर यह कहा जा सकता है कि व्यवहार मे सस्थाओ से सबधित कार्यकर्ताओं की ही सख्या बहुत अधिक है।

ये सस्थाये, चाहे उनका स्वरूप रजिस्टर्ड सस्था का हो, या सहकारी का, सब की सब सार्वजनिक सस्थाये है। सार्वजनिक अनेक अर्थों मे—

(क) इन सस्थाओ की सारी सपत्ति, साज-सामान, साधन किसी एक व्यक्ति, व्यक्ति-समूह या वर्ग के नही, बल्कि सारे समाज के है, इसलिये ये सस्थाये सार्वजनिक है

(ख) चाहे संपत्ति कुछ व्यक्तियों के दान से एकत्रित हुई हो, सरकार की सहायता से प्राप्त हुई हो, कतवारी बुनकर या अन्य किसी वर्ग अथवा समूह विशेष की ओर से प्राप्त हो, पर संस्था में आने के बाद यह सारे समाज की है। समाज के हित में ही इसका अधिक से अधिक उपयोग होना चाहिये। व्यक्ति, व्यक्ति-समूह या वर्ग-हित की भावना का निर्माण या पोषण इससे नहीं होना चाहिये। इस प्रकार सार्वजनिक उपयोग की दृष्टि से भी ये संस्थायें सार्वजनिक हैं।

(ग) इन संस्थाओं के संचालक और कार्यकर्ता समाज के सेवक के रूप में संपत्ति और अधिकार के ट्रस्टी बन कर उसका नियमन और संचालन करते हैं। ये संस्थायें सार्वजनिक सेवकों द्वारा चलाई जाती हैं। इसलिये ये सार्वजनिक संस्थायें हैं।

यदि सार्वजनिक संस्थाओं के इस स्वरूप को कार्यकर्ता समझ लेंगे तो अपने कार्य की मर्यादाओं और उत्तरदायित्व का अधिक स्पष्टतापूर्वक भान हो जायगा। और सरकारी महकमों और व्यापारिक तथा औद्योगिक कंपनियों दोनों से सार्वजनिक संस्थाओं का जो अंतर है, उसे भी समझ जायेंगे।

एक बात और भी ध्यान में रखने की है। एक ओर सरकारी महकमे सरकारी कानूनों और परंपराओं से जकड़े रहते हैं, वे समाज-शास्त्र और सामाजिक मनोविज्ञान के क्षेत्र में कोई नये प्रयोग नहीं कर सकते। वे प्रयोग जब सर्वमान्य होकर कानून का रूप ले लेंगे तभी वे महकमे उनका उपयोग कर सकेंगे। व्यापारिक फर्में मुनाफे और सीमित स्वार्थ की मर्यादा में बंधी रहती हैं, अतः वे नैतिकता और निःस्वार्थता का बहुत ऊंचा मापदण्ड नहीं रख पातीं। सार्वजनिक संस्थायें चाहे वह समाज कल्याण का काम करती हों, चाहे व्यापारिक कार्य करती हों, एक तरह से इन दोनों

स्थितियों से ऊपर है। सरकारी कानून उन्हें जकड़े हुये नहीं है, व्यापारिक लाभ उनके कार्यक्रम का उद्देश्य नहीं है। कार्यकर्ताओं का भविष्य लाभ की मात्रा पर आधारित नहीं है, अत सार्वजनिक सस्थायें इन दोनों से बहुत अधिक ऊचे और शुद्ध मापदण्ड कायम कर सकती हैं। इन दोनों से अधिक जनता के निकट पहुंच सकती है और इन दोनों से अधिक साहसपूर्ण नये प्रयोग जनशिक्षण की दिशा मे कर सकती है।

इस विवेचन से कुछ और मुद्दे भी स्पष्ट होते है —

१ सस्थाओं मे अधिकारियो और कर्मचारियों का कोई अतर नहीं रहना चाहिये। वहा मालिकों और मजदूरों जैसा भी कोई भेदभाव नहीं रह सकता। सस्थाओ में आदि से अत तक सभी कार्यकर्ता है। कोई अधिक अनुभवी, कोई कम। कोई एक कार्य के लिये जिम्मेदार है, कोई दूसरे के लिये। इतना ही फर्क है, लेकिन इससे कोई काम या कार्यकर्ता ऊचा या नीचा है—यह भाव नहीं होना चाहिये और पुरानी दूषित परम्परा से यह भाव आगया है तो मिट जाना चाहिये।

२. सस्था की सफलता मे सारे कार्यकर्ताओ का हिस्सा है और विफलता में उन सबका उत्तरदायित्व। अत सस्था के उद्देश्य की सफलता मे हर एक कार्यकर्ता को निष्ठापूर्वक जुटे रहना आवश्यक है। कार्यकर्ता अपने आदर्श का सेवक है, आदर्श के प्रति निष्ठा के कारण ही वह सस्था के अन्तर्गत है। अत सस्था के अहित को रोकना उसका कर्तव्य है, लेकिन रोकने का तरीका गाधीजी द्वारा अग्रेजो के खिलाफ प्रयुक्त सत्याग्रह के उग्रतम रूप का न हो, बल्कि विनोबा द्वारा प्रतिपादित सत्याग्रह के सौम्यतम रूप का हो, क्योंकि जिन साथी कार्यकर्ताओ को उसे समझाना है वे दूर के, स्वतन्त्रता हरण करने वाले विदेशी नहीं, बल्कि उसी के सहोदर सरीखे निकट मित्र है।

३ एक सस्था के कार्यकर्ताओ मे केवल सहयोग ही काफी नहीं है। उनमे पारस्परिक सहजीवन और सह-अध्ययन बहुत लाभदायक सिद्ध हो सकता है। जीवन की सामूहिक सुविधाओं और जीवन के सकटों का सामूहिक सहन दोनों इस मे सहायक होंगे। सब कुछ सुविधा हो मगर स्नेह नहीं होगा तो जीवन मे रस नहीं उत्पन्न हो सकता, और असुविधाये कितनी भी अधिक हों, लेकिन स्नेह हो तो वे सारी असुविधाये भी जीवन के रस को नहीं सुखा सकतीं। कार्यकर्ताओ और सस्थाओ दोनों को इस स्नेह के पैदा होने और बढाने के मार्ग ढूढने और उन पर चलना चाहिये।

४ इसके अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि कार्यकर्ताओ को संस्था की आर्थिक स्थिति की पूरी जानकारी हो, उसकी क्या जिम्मेदारिया है उसे वे अच्छी तरह समझे और सस्था किस हद तक सहायक हो सकती है, उसकी क्या मर्यादाए है—यह भी जाने। दूसरी ओर कार्यकर्ताओं की क्या दिक्कते है और उन्हें जहा तक दूर किया सकता हो वहा तक दूर करने मे सस्थाये कोई कसर न छोडे। सस्था और कार्यकर्ताओ मे माता-पुत्र का सा निकट-स्नेह सम्बन्ध बनना चाहिये।

५ सस्था के अन्तर्गत कार्यकर्ताओं मे आतरिक अनुशासन का विकास होना चाहिये। लिखे हुए कानून-कायदे सस्था तथा कार्यकर्ताओ दोनों की कमजोरी के सूचक है, महत्ता के नहीं। अगर कार्यकर्ता आदर्श के लिये समर्पित हों और सस्थाओ मे कोई निहित स्वार्थ न हो तो जरूर सस्था मे ऐसी परम्परा का विकास हो सकता है, जिससे सारा कार्य पूरी जिम्मेदारी और स्नेह-भावना के साथ चलता जाय और बाहरी अनुशासन उत्तरोत्तर कम होकर खतम हो जाय। सर्वोदय समाज के वर्गहीन और शासन-हीन समाज का आदर्श अगर कहीं पेश हो सकता है तो

ज्ञानवान, समर्थ और कार्यकुशल कार्यकर्ताओं द्वारा सार्वजनिक संस्थाओं में उसका आरम्भ किया जा सकता है। इसमें संस्था और कार्यकर्ता दोनों की कार्यक्षमता और योग्यता बढ़ेगी और यही उस आदर्श की ओर प्रगति का सबसे बड़ा और पहला प्रमाण होगा। अगर गांधी और विनोबा के विचार से अनुप्राणित सार्वजनिक संस्थाओं और कार्यकर्ताओं में यह प्रयोग आरम्भ नहीं हो सकता तो कहना होगा कि गांधी-विनोबा के आदर्शों की सिद्धि अभी बहुत दूर है और गांधी और विनोबा के देश तथा उनके अनुयायियों से दुनिया जो आशा लगाये बैठी है उसे फिलहाल निराश ही होना पड़ेगा।

रचनात्मक कार्यकर्ताओं पर कितनी जिम्मेदारी है—इसका कुछ अनुमान इससे हो सकता है।

जनता

"जनता भेड की तरह है। उस पर ऊन कोई नहीं छोडता। कोई न कोई कतर ही लेता है। उस पर दया दिखाना बेकार है-तो हम ही यह काम क्यों न करलें ?"

"जनता दूब की तरह है जितना काटते हैं, उतनी ही चढती है।"

इस प्रकार के विचार हमारे देश के बहुत से सरकारी कर्मचारी, खासकर देशी राज्यों और जागीरदारों के कर्मचारी अक्सर खुल्लमखुल्ला प्रकट किया करते हैं। आज इन विचारों का अनौचित्य शायद बहुत लोग समझ गये हैं, कम से कम इन्हें इस रूप में प्रकट करने की हिम्मत तो बहुत कम में रह गई है। फिर भी समाज-सेवा में लगे हुये बहुत से कार्यकर्ताओं के मन में इस प्रकार के विचार आते रहते हैं और कोई २ इसके अनुसार आचरण भी करते पाये जाते हैं, इसमें शक नहीं।

दूसरे सिरे पर ऐसे कार्यकर्ता हैं जो जनता के किसी भी छोटे बडे समूह के विचार, भावना, राय, आवेश या अफवाह के सामने जरा भी नहीं टिक सकते। जिस समय जनता या जिसे वे जनता समझते हैं-प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से जो चाहती है, उसे करने को सदा तैयार रहते हैं। वे मानते हैं कि जिस समय जनता जो चाहती है, उसी की पूर्ति करना और जनता जो कहती

है उसका समर्थन करना, उनका एक मात्र कर्तव्य है। उससे कम या अधिक ये कुछ नहीं करना चाहते।

समाज और व्यक्ति का हित

हमारे खयाल से ये दोनों सिरे जनता की गलत तस्वीरें और कार्यकर्ता के कर्तव्य की गलत दिशाओं का दर्शन कराते हैं। पहला विचार स्पष्ट ही लोकतंत्र की सारी भावना के विपरीत है। यह निरकुश राजतंत्र तथा सामन्तवादी व्यवस्था की विरासत है। जो लोग उन परिस्थितियों में पले और बढ़े हैं उन्हें अपने दृष्टिकोण के सम्बन्ध में गभीरतापूर्वक विचार करना चाहिये और लोकतन्त्र के दार्शनिक पहलू का अध्ययन करके अपने विचार का संशोधन करना चाहिये। लोकतंत्र में जनता का हित और शासन का हित, समाज का हित और व्यक्ति का हित स्थायी रूप से परस्पर विरोधी नहीं हो सकता, वह एक दूसरे का पूरक और सहायक ही हो सकता है। जिन लोगों में दृष्टिकोण के संशोधन की गुञ्जाइश नहीं है, जो स्वाध्याय, चिन्तन और चर्चा के बावजूद अपने दृष्टिकोण को नहीं बदल पाते, उन्हें समाज सेवा के कार्य को ईमानदारी से छोड़ देना चाहिये। वे कार्यकर्ता नहीं रह सकते, वे कार्यकर्ता की जिम्मेदारी के लायक नहीं हैं। वे एक प्रकार के असामाजिक तत्व हैं, जिन्हें समाज की वर्तमान परिस्थितियों में शायद सहन तो किया जा सकता है लेकिन समाज-सेवा, समाज-क्रान्ति और समाज-निर्माण का उत्तरदायित्व नहीं सौंपा जा सकता।

सेवक का उत्तरदायित्व

दूसरे सिरे के लोग भी समाज के वास्तविक सेवक और तपस्वी नहीं हो सकते। जनता के छोटे-बड़े वर्गों के विचार हमेशा

ही विवेकपूर्ण तथा न्याययुक्त नहीं होते। बहुत सी बार जनता का बड़े से बड़ा वर्ग भी आवेश में बह जाता है, अपनी सुध-बुध खो बैठता है। साम्प्रदायिकता, प्रांतीयता, राष्ट्रवादिता, भाषावादिता आदि के ऐसे रूप अक्सर सामने आये है, जिनका समर्थन कई बार प्रदेश विशेष की लगभग सारी जनता ने ही किया है। लेकिन उस स्थिति में कार्यकर्ता का कर्तव्य जनता की माग और कार्य का समर्थन बिल्कुल नहीं है। उसका कर्तव्य ऐसी माग और कार्य पर शान्तिपूर्वक तथा दुर्भावना रहित होकर नम्रता से विरोध करना ही है और उस विरोध में अपना सर्वस्व होम देना ही उसकी सबसे बड़ी जन-सेवा, जन-क्रान्ति और जन-निर्माण है। लेकिन वह इतना न भी कर सके तो कम से कम उस प्रवाह से अपने आपको हटाकर अलग कर लेना तो निश्चय ही आवश्यक है। जो इतना भी न कर सके तो कहना होगा कि उसने जन-सेवक के-कार्यकर्ता के उत्तरदायित्व को नहीं निभाया।

इन दोनों नकारात्मक पहलुओं को छोड दे तो कार्यकर्ता और जनता के सम्बन्धो का विधेयात्मक स्वरूप हमारे सामने आता है।

जिस समाज के बीच कार्यकर्ता को सयोग और परिस्थितियों के कारण अथवा जानबूझकर प्रयत्नपूर्वक रहने का अवसर मिला है, उसकी सेवा, उसका समग्र उत्थान उसके जीवन का लक्ष्य है।

अनन्य निष्ठा

जिस समाज की सेवा उसके जीवन का लक्ष्य है, उसके प्रति स्वाभाविक रूप से उसकी श्रद्धा और निष्ठा होनी चाहिये। जनता की श्रेष्ठता में उसका विश्वास होना चाहिये। पुरानी भाषा में कहें, तो कार्यकर्ता में जनता के प्रति निष्ठा ईश्वर-निष्ठा के समान होनी चाहिये। असल में जनता ही पृथ्वी पर ईश्वर का साकार रूप है,

जनता ही जनार्दन है। आवाजे-खलक (जनता की आवाज) नक्कारऐ खुदा अस्त (खुदा का नक्कारा है)-यह भान उसे रहना चाहिये।

इसका अर्थ यह हुआ कि अपने व्यवहार में जिस जनता से उसका सपर्क आता है, उसमे उसे ईश्वर का दर्शन या दूसरे दृष्टिकोण से कहे तो अपना अपनी ही आत्मा का दर्शन होना चाहिये। अपने सुख-दुख, हित-अहित की जैसी और जितनी अनुभूति उसे होती है, कम से कम उतनी अनुभूति तो उसे अपने सपर्क मे आने वाली जनता के सम्बन्ध मे होनी ही चाहिये। जहा श्रद्धा है, वहा जनता के प्रति नम्रता और सहनशीलता तो होगी ही, अत कार्यकर्ता जनता के प्रति अभिमानी, असहिष्णु, स्वार्थी और सकुचित मनोवृत्ति वाला तो हो ही नहीं सकता।

नम्रता के साथ दृढ़ता भी

लेकिन यहा स्पष्ट कर देना उचित होगा कि कार्यकर्ता जनता का सेवक तो है, उसकी सेवा के लिये अपने सर्वस्व त्याग की भावना रखता है और तैयारी भी करता है लेकिन वह जनता का गुलाम नहीं है। वह स्वय एक विवेकशील व्यक्ति है, सत्य की शोध और सत्य का आचरण उसके जीवन का लक्ष्य है, प्रेम और सेवा उसके लक्ष्य की प्राप्ति का मार्ग है। अत वह जनता की सेवा उसी सीमा तक करेगा, जिस सीमा तक वह सेवा उसके उस समय तक सत्य के ज्ञान और सत्य के आचरण के अनुकूल है। जो प्रवृत्ति और सेवा उसे सत्य के अनुकूल नहीं लगेगी, उस सेवा को वह नहीं अपनायेगा। वह सेवा जनता को देने से वह इन्कार कर देगा, नम्रतापूर्वक तो अवश्य, लेकिन दृढतापूर्वक भी। सच्चा कार्यकर्ता इसलिये जनता का वास्तविक सेवक भी होगा और सभवत उसका नेता भी।

आचरण में ईमानदार

हो सकता है ऐसा कार्यकर्ता सदा लोकप्रिय न रहे। सदा जनता का प्रेम और आदर प्राप्त न कर सके। कभी २ जनता उससे नाराज भी हो जाय, अपमान भी करदे, शायद कभी उसे मार भी डाले। यह सब उसके लिये-कार्यकर्ता के लिये अभिशाप नहीं है, वरदान रूप ही होगा, क्योंकि इसमें कोई शका नहीं कि जनता का थोडा भाग सदा गलत होजाता है, वडा भाग कभी २ गलत होजाता है, लेकिन सारी जनता सदा कभी गलत नहीं हो सकती। जनता अवश्य ही अपनी गलती को समझ लेती है जान जाती है। अत अगर कार्यकर्ता अपने सत्य के प्रति नम्रतापूर्वक निष्ठावान है, और नि स्वार्थभाव से निरतर जन-सेवा मे लगा हुआ है तो जनता उसको अवश्य ही पहचान लेने वाली और कद्र करने वाली है, उसे अपने मस्तक पर विठा लेने वाली है, उसे अपने हृदय मे धारण कर लेने वाली है। यह कोई महत्व की वात नहीं कि यह स्थिति कार्यकर्ता के जीवन काल मे आती है या इस नश्वर शरीर के भौतिक तत्वों के विखर जाने के वाद। महत्व की वात इतनी ही है कि जन-सेवक कार्यकर्ता अपने जीवन काल मे जनता का निष्ठावान सेवक रहा या नहीं और अपने दृष्टिकोण और साधना के अनुसार वह सत्य के ज्ञान और आचरण मे ईमानदार रहा या नहीं। यदि इतना उसने किया तो उसने अपने जीवन का उद्देश्य सिद्ध कर लिया और अपने जीवन की पूरी कीमत प्राप्त करली। इससे अधिक इस साढे तीन हाथ के मिट्टी के पुतले को अल्प अवधि मे और क्या चाहिये ?

सरकार

भारत की राजनैतिक स्वाधीनता को अभी केवल दस वर्ष ही हुए है। भारत की अपनी केंद्रीय और प्रातीय सरकारे भी इतनी ही उम्र की है। इस अवस्था के पहले लगभग साठ वर्ष तक भारत मे सरकार और जनता के बीच हिंसात्मक और अहिंसात्मक, आदोलनात्मक और भावनात्मक, भौतिक और मनोवैज्ञानिक सघर्ष चलते रहे, जिनमे सार्वजनिक कार्यकर्ताओं का प्रत्यक्ष, सक्रिय और भरपूर भाग रहा। ऐसी स्थिति में जिन सार्वजनिक कार्यकर्ताओ की अवस्था तीस वर्ष के ऊपर है, उन मे बहुतों के दिल और दिमाग मे अगर सरकार मात्र के विरुद्ध अविश्वास और विरोध की भावना गहराई से पठी हुई हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इसका इतना ही अर्थ है वे गत दस वर्ष की बदली हुई परिस्थितियो के अनुसार अपने को नहीं बदल पाये हैं।

दूसरी ओर इस जमाने के कुछ अन्य कार्यकर्ताओं के मन मे इस प्रकार की भावना बन गई है कि सरकार मे तो हमारे ही साथी और मित्र लोग है जिनके साथ कधे से कधा मिला कर हम काम करते थे। इस स्थिति में कार्यकर्ताओं की हर एक कठिनाई-व्यक्तिगत और सार्वजनिक-को हल करना उनका कर्तव्य है। वे हर एक दिशा मे और हर एक परिमाण मे सरकार की मदद की आशा करते है। इस प्रकार एक ओर वे सरकार पर अत्यत आश्रित हो जाते है और जब किसी भी कारण से उनकी वह आशा

पूरी नहीं होती है तो दूसरी ओर वे निराश, क्रुद्ध या विरोधी भी बन जाते है।

तीसरे प्रकार के ये कार्यकर्ता है, जिनकी अवस्था बीस-पचीस वर्ष के आसपास है। उन्होंने आजाद भारत मे ही होश सभाला है। आजादी के सघर्ष की प्रेरणा, स्फूर्ति और स्मृति उनमे नहीं है। उन्हे गाधीजी की शुद्ध और त्याग तथा बलिदान पूर्ण जीवन-दृष्टि का स्पर्श नहीं हुआ। आज की सरकारो मे जाने वाले लोगो के साथ भी सीधा सपर्क नहीं बना। वे सरकार को दूर से ही जानते है। वे या तो कल्याणकारी राज्य की परावलबी मनोवृत्ति से आक्रात है—अर्थात् सब कुछ सरकार को करना चाहिये और जब सरकार "सब कुछ" नहीं कर पाती—वह सब कुछ कर ही नहीं सकती—तब वे असन्तुष्ट और क्रुद्ध रहते है या भ्रष्टाचार, अक्षमता पारस्परिक झगडे और गुटबन्दी के अतिरजित तथा दूसरों से प्राप्त चित्रों के आधार पर अपने मन मे हीन तथा विरोधी कल्पना बना लेते है।

ये सब असन्तुलित और वास्तविकता से दूरस्थ मनोवृत्ति के सूचक हैं। कार्यकर्ताओं को भारत की आजादी के बाद की सारी परिस्थितियो और सरकार की मूल प्रकृति पर गहराई से विचार करके अपनी दृष्टि को शुद्ध करना चाहिये।

पहली बात तो यह है कि हमे अग्रेजी राज्य के जमाने की सरकार-विरोधी मनोवृत्ति को छोड देना चाहिये। सरकार और जनता मे सर्प-नकुल वैर की तरह विरोध ही स्वाभाविक और आवश्यक है, यह विचार गलत है। इसका आमूल शोधन कर लेना उचित है। सरकार हमारे देश की जनता के मत से चुनी हुई है। अत वह जनता की प्रतिनिधि है। जनता के गुण, दोष, कमिया और विशेषतायें, सक्षेपत जनता का नैतिक स्तर ही सरकार

मे भी प्रतिबिंबित होता है। इसमे शक नहीं कि आधुनिक कल्याणकारी लोकराज्य मे सरकार जनता का नेतृत्व भी करती है, अत उसका नैतिक स्तर जनता से ऊचा होना चाहिये, लेकिन वह नहीं होता है तो केवल सरकार की आलोचना करने और उसे कोसने से अधिक लाभ नहीं होगा। स्थाई लाभ सामान्य जनता के नैतिक स्तर को ऊचा उठाने का प्रयत्न करने से ही होगा।

दूसरी बात यह है कि सरकार एक सगठित तत्र है जो लवे अनुभव और व्यवहार के बाद विभिन्न दृष्टिकोणों से समझौता करके निश्चित किये हुए कानूनो, नियमो और परपरा के आधार पर चलता है और इनका उल्लघन करके नहीं चल सकता, इसलिये सरकार का तत्र अगर धीरे काम करता है और हमारी अपेक्षा के अनुसार पूरा काम कर नहीं पाता है, तो हमे निराश और क्रुद्ध नहीं होना चाहिये। बल्कि उस पर दया करनी चाहिये। कछुआ खरगोश की गति से नहीं भाग सकता।

इसी मे तीसरी बात फलित होती है और वह यह कि कार्यकर्ता का कर्तव्य है कि सरकार के कल्याण-कार्य को गति देने के लिये नैतिक क्षेत्र मे उसका नेतृत्व करे। कार्यकर्ता का नैतिक स्तर सरकार के नैतिक स्तर से सदा ऊचा रहे, इस बात का ध्यान और प्रयत्न बराबर कार्यकर्ता का रहना चाहिये। तभी वह सरकार को सही रास्ते पर रख सकेगा और उसको कार्यक्षमता और गति मे वृद्धि हो सकेगी।

इस सारे विवेचन का फल यह निकला—

(क) भारत की सरकारे आजाद भारत की सरकारे है, हमारी अपनी सरकारे है, अत हमें पुराने सरकार-विरोधी स्थायी रुख को छोड़ देना चाहिये। यही नही, हमे उनके प्रति सहानुभूति का दृष्टिकोण अपनाना चाहिये।

(ख) सरकारों की अपनी मर्यादाएं और सीमायें हैं अत उनका काम सामान्यत धीमी गति से चलने वाला होगा और उसमें बहुत प्रगतिशीलता की अपेक्षा नहीं की जा सकती। सरकार कभी क्रांति नहीं कर सकती। क्रांति कार्यकर्ता और जनता द्वारा ही हो सकती है। सरकार सदा क्रांति की अनुगामी ही हो सकती है पूर्वगामी नहीं हो सकती।

(ग) कार्यकर्ता को सरकार पर अत्यधिक निर्भर नहीं रहना चाहिये। सरकार का वह सहयोग ले, लेकिन उसपर अवलंबित न रहे। सरकार बैसाखी की तरह सहायक हो सकती है, लेकिन टांग की जगह नहीं ले सकती।

(घ) कार्यकर्ता की सब से बडी पूंजी उसका नैतिक स्तर और उसकी त्याग भावना है। उसी से वह सरकार पर प्रभाव डाल सकता है यह पूंजी जितनी अधिक होगी, कार्यकर्ता भी उतना ही बडा होगा।

(ङ) कार्यकर्ता का असली सहारा जनता है। उसे जनता के सहारे पर ही खडा होना चाहिये। जागरूक नेतृत्व द्वारा जिस हद तक वह जनता का मार्गदर्शन करेगा और सहानुभूतिपूर्ण सेवा द्वारा जनता के जितना निकट आयगा, उतना ही लोकप्रिय बनेगा। और कार्यकर्ता जितना लोकप्रिय होगा सरकार पर भी उसका उतना ही प्रभाव पडेगा। पार्लियामेंटरी सरकारें और सारी बातों की उपेक्षा कर सकती है, लेकिन जनता के मानस पर जिनका प्रभाव है उनकी उपेक्षा वे नहीं कर सकती, क्योंकि उनका प्राण जनता के वोट में बसा हुआ है।

१६ :

अन्य कार्यकर्ता

कभी २ ऐसा लगता है कि भारत मे शायद एक ही कौम बसती है और वह है आलोचको और निदकों की कौम। सभवत: हर आदमी दूसरे की बुराई और निदा करता पाया जाता है और दूसरे का अपवाद हम जितनी ही रुचि और आग्रह के साथ सुनते है, उतनी ही उदासीनता हमे दूसरे की बडाई सुनकर होती है। ऐसी स्थिति मे कार्यकर्ता-कार्यकर्ता के बीच द्वेप, मत्सर और ईर्षा पाई जाती है तो वह आश्चर्य की बात तो नहीं है लेकिन गहरी वेदना और गहरे विचार की बात अवश्य है। इस पर हम सबको ध्यान देना चाहिये।

कार्यकर्ता की कसौटी

कार्यकर्ता ने समाज-क्राति या समाज-सेवा को अपने जीवन का लक्ष्य स्वीकार किया है, उसी के लिये वह जीना चाहता है और वह आजीवन इसकी तैयारी करता है कि जरूरत पडे तो इसी के लिये मरे भी। वैसी स्थिति मे उसने अपने तथा अपने परिवार के भरन-पोपण के लिये जो कुछ निर्वाह-व्यय लेना स्वीकार किया है, वह एक गौण चीज है, एक मजबूरी है या यों कह सकते है कि उसके जीवन-लक्ष्य की पूर्ति का एक सहायक साधन मात्र है-उससे वह ऊचा-नीचा, अच्छा-बुरा नहीं बनता। यह दृष्टि कार्यकर्ता की है या बनती जानी चाहिये तभी वह कार्यकर्ता बन सकता है और रह सकता है

छोटे बड़े का सवाल

यह एक प्रकार की सामाजिक तैयारी है। यह तैयारी कार्यकर्ता मे प्राय अधूरी रहती है तभी कार्यकर्ता-कार्यकर्ता के बीच मे ईर्षा और द्वेष होता है। वेतन और पद के कारण, सुविधाओं की अधिकता-न्यूनता के कारण आपस मे दुर्भावना और नाराजगी पैदा हो जाती है। अमुक को डेढ सौ रुपया मासिक मिलता है और अमुक को पचहत्तर रुपया, अमुक अधिकारी है और अमुक कर्मचारी मात्र। अमुक के पास सवारी है और अमुक के पास नहीं है। यह वर्तमान समाज के दोषपूर्ण सगठन के कारण है, जिसे बदल डालना ही कार्यकर्ता के जीवन का लक्ष्य है। पर यह एकदम नहीं बदल डाला जा सकना, बल्कि जनमत के निर्माण और समाज की परिस्थितियों के परिवर्तन से ही यह सभव होगा, अत. इस कारण कार्यकर्ताओं में आपस में ईर्षा नहीं होनी चाहिये। यह निश्चय ही वाछनीय है कि कार्यकर्ताओं में ऐसा अतर न रहे, लेकिन यह अतर खतम होने की स्थिति भी जन-जागृति के परिणाम-स्वरूप ही बनेगी इसलिये आवश्यकता इस बात की है कि कार्यकर्ताओं मे यह दृष्टि बने कि जो भी भौतिक साधनों का उपयोग करते हैं, वे अपने-आप मे ऊच-नीच के कारण नहीं हो सकते, वे केवल वर्तमान परिस्थितियों और समाज के ढाचे के कारण है जिन्हें परिवर्तन करने मे प्रयत्नशील हमे रहना चाहिये जब तक ये परिवर्तन हों, तब तक इन्हें सहन करना है। लेकिन इनके कारण से आपस मे मनोमालिन्य नहीं आना चाहिये।

एकनिष्ठा आवश्यक

इसके लिये कार्यकर्ता मे एक प्रकार की मानसिक तैयारी की जरूरत है। वह मानसिक तैयारी किस तरह की होगी इसे एक

दृष्टांत से समझा जा सकता है। कहा जाता है कि एक बार विश्वामित्र वशिष्ठ के पास जाकर बोले आप हमें जीवनमुक्ति का मार्ग बतलाइये। वशिष्ठ बोले ऋषिवर मैं तो स्वयं ही जीवनमुक्त नहीं हूँ मैं आपको क्या मार्ग दिखलाऊं। आप को कुछ सीखना है तो महाराज जनक के पास जाइये। विश्वामित्र आश्चर्यचकित होकर बोले जनक के पास? वह तो राजा है, वह जीवनमुक्ति का मार्ग क्या सिखायेगा? खैर, वशिष्ठ के आग्रह से जनक के पास गये और अपनी यात्रा का उद्देश्य कह सुनाया। जनक ने मुनि की बहुत खातिर की और नम्रता पूर्वक निवेदन किया मुनिवर मैं कुछ जानता नहीं, लेकिन पधार ही आये हैं तो एक बार जनकपुरी देख आइये। पर तेल का भरा कटोरा मौजूद है, इसे ले जाइये। देखिये, इसमें से एक बूँद भी तेल न गिरे। फिर जनक ने दो सैनिकों को बुलाया और कहा—देखो, मुनिवर के पीछे जाओ। अगर कटोरे में से एक बूंद भी तेल गिरे तो तलवार से सिर उड़ा देना। विश्वामित्र दिन भर सारी जनकपुरी में घूम कर सन्ध्या को वापस आये तो राजा ने पूछा—महाराज आप सारे दिन जनकपुरी में घूमे आपने क्या देखा? विश्वामित्र बोले—राजा मैं घूमा तो सारे दिन लेकिन देखा कुछ नहीं, क्योंकि मेरा सारा ध्यान तो कटोरे पर ही केन्द्रित था, कहीं तेल की एक बूंद गिर न जाय। जनक ने विश्वामित्र के चरणों में अपना मस्तक रख दिया और हाथ जोड़कर कहा—महर्षि, यही जीवन्मुक्ति है। समाज-सेवा की यही अनन्यता यही कार्यकर्ता की साधना, यही उसकी मानसिक तैयारी होनी चाहिये। इस तैयारी की शुरुआत इसमें हो जाय तो फिर छोटे-मोटे भौतिक अन्तर, सुविधा-असुविधाओं के कारण उठते ईर्षा-द्वेष को आने और टिकने की जगह ही खतम हो जायगी।

विविधता मे एकता

एक बात और है। हम इस विशाल देश, विशाल जनसंख्या और हजारों वर्ष पुरानी ऐतिहासिक और सांस्कृतिक परंपरा के वारिस है, हमारी समस्याये भी विविध और जटिल है, उनके स्वरूप, तारतम्य और निदान के बारे मे विभिन्न दृष्टिकोण स्वाभाविक ही है, तब कार्यकर्ता-कार्यकर्ता के बीच दृष्टिकोण अथवा कार्य प्रणाली के बारे मे अतर रहे यह कोई अस्वाभाविक और अनुचित नहीं है, लेकिन इसके साथ ही हम सब मानव है, सब समाज के सदस्य है, सामूहिक प्रयत्नों से आज की स्थिति तक पहुँचे हैं और सामूहिक प्रयत्नों से ही प्रगति कर सकते है, तो इसमे आपस मे प्रेम, सहयोग और सौहार्द होना भी स्वाभाविक है। हम अतर की विविधता को समझे और सौहार्द की आवश्यकता को समझे तो अतर कम होता जायगा और सौहार्द बढता जायगा।

आमदनी मुख्य बात नहीं

कार्यकर्ताओं को स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिये कि पद के तथाकथित ऊचेपन या नीचेपन से कार्यकर्ता बडा और छोटा नहीं होता, पद बहुत सी बार योग्यता के कारण नहीं मिलता, गुण के कारण नहीं मिलता और सामाजिक परिस्थिति के कारण मिल जाता है। अवस्था की अधिकता या न्यूनता के कारण कोई छोटा-बड़ा नहीं होता, पर न्यूनाधिकता भी परिस्थिति जन्य ही है, अधिक उम्र का होने से कोई ऊचा हो गया, अधिक गुणवान हो गया, कम उम्र का होने से अधिक बुद्धिमान हो गया, या नीचा हो गया, ऐसी बात नहीं है। वेतन और आमदनी की न्यूनाधिकता भी मनुष्य की वास्तविक कीमत का मापदड नहीं है, क्योंकि योग्य और अच्छे व्यक्ति को अधिक ही मिलता हो और अयोग्य तथा बुरे व्यक्ति को कम ही मिलता हो-यह भी नहीं है। इसमें भी अक्सर सामाजिक परिस्थितिया और सामाजिक सगठन का बहुत बडा

हाथ रहता है। बौद्धिक ज्ञान और शारीरिक शक्ति की भी यही स्थिति है। कोई बिना पढ़ा-लिखा होने से या पहलवान होने से या न होने से ही वह अच्छा या बुरा, ऊंचा या नीचा नहीं हो जाता। मनुष्य के भले-बुरे या ऊंचे-नीचे होने की एक ही कसौटी है और वह है उसके नैतिक गुणों का विकास या समाज-सेवा के विचार, आचरण और व्यवहार में तद्रूपता। यह एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इसी को त्याग और बलिदान भी कह सकते हैं। यह जिसमें जितना अधिक है, उतना ही वह अच्छा और ऊंचा है, जितना कम है उतना ही कम अच्छा है और कम ऊंचा। यह सब तुलनात्मक शब्द हैं अच्छाई की पूर्णता मनुष्य के लिए आदर्श है, यद्यपि भौतिक शरीर के द्वारा वह प्राप्य नहीं है, बुराई की पूर्णता मनुष्य के लिये अगम्य है, क्योंकि मनुष्य केवल भौतिक शरीर नहीं उससे सूक्ष्म और अलग वह कुछ न कुछ अवश्य है। इसीलिए मनुष्य-मनुष्य में प्रेम, सहयोग और सौहार्द बढ़ना स्वाभाविक, उचित और ज्ञानपूर्ण है। द्वेष, ईर्षा और मत्सर अस्वाभाविक, अनुचित और अज्ञानपूर्ण है।

समाजवाद-साम्यवाद-सर्वोदय

एक बात और है। सारे कार्यकर्ता एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ने वाले सहयात्री हैं, दिशा एक है, रफ्तार अलग है, लेकिन इसके कारण ईर्षा या अभिमान क्यों हो? अगर एक यात्री पीछे है, तो दूसरों को अपने से आगे देखकर उसे उत्साह और प्रेरणा ही मिलनी चाहिये। जो आगे है, अपने से पीछे वालों के प्रति उसके मन में प्रेम और सहानुभूति ही उमड़नी चाहिये इसी में उसका लाभ है, इसी में सब का लाभ है। जिसमें एक का लाभ है और सबका लाभ है, वही हिन्दू या भारतीय संस्कृति है, वही सच्चा समाजवाद है, वही वास्तविक साम्यवाद है और वही सर्वोदय है।

१७ :

सफलता-असफलता

आज के जमाने मे हमारे देश मे सफलता का पहला मापदन्ड पैसे के परिमाण का है। जिसके पास अधिक पैसा है, उसे बडा आदमी माना जाता है। अपने जीवन मे जिसने अधिक पैसा कमाया, अपना निजी मकान बनाया, साज-सामान, मोटर, रेडियो आदि जुटाया, बैंक मे अधिक रुपया छोडा, जेवर आदि जमा किया, उसे सफल माना जाता है। कोई पर्वाह नहीं, यह सब उसने ईमानदारी से किया या नहीं, उसका शारीरिक स्वास्थ्य अच्छा रहा या नहीं, समाज के हित मे कुछ किया या नहीं।

सत्ता और पद

सफलता का दूसरा पैमाना सत्ता या पद का है। कोई व्यक्ति अपने जीवन मे कितने ऊचे पद पर पहुँचा-अधिकार पर पहुचा, इससे सफलता को मापा जाता है। सामान्य खेतिहर, मजदूर, क्लर्क या गुमाश्ते के मुकाबले मे अफसर की ज्यादा इज्जत है। अच्छे विद्वान, प्रोफेसर के मुकाबले में थानेदार और तहसीलदार की समाज मे ज्यादा कद्र है, थानेदार तो दूर, पटवारी का सम्मान अध्यापक से कहीं अधिक है। अगूठा-छाप सरपच के सामने विद्वान् ब्राह्मण सिर झुकाते है और लगभग अनपढ मन्त्रियों के सामने महामहोपाध्याय हाथ जोडे खडे रहते है।

डिग्री का मापदण्ड

सफलता का तीसरा पैमाना कालेज की डिग्रियाँ और शिक्षा का है। बी ए या एम ए की डिग्री प्राप्त कर लेना, इञ्जीनियरिंग या डाक्टरी परीक्षा पास कर लेना, इस देश में मानव जीवन की सफलता की चरम सीमा मानली जाती है। समाज में वरों के बाजार में एक-एक वर्ग ऊँचे चढ़ते जाय, तो वर की कीमत में एक-एक हजार की तो वृद्धि होती ही जाती है। अगर कोई इङ्गलैंड या अमेरिका की एक-दो वर्ष खाक छान आया, तब तो मानों वह सफलता की सारी सीढ़ियां ही चढ़ गया। इस लोक और परलोक दोनों में कृतकृत्य हो गया। फिर तो उसकी सफलता में सन्देह की गुंजाइश ही नहीं रही।

सम्पन्नजनों को सहूलियत

कहना न होगा कि सफलता के ये पैमाने बहुत विकृत हैं। पैसे का परिमाण व्यक्ति की बुद्धिमानी, दूरदर्शिता, साहस और परिश्रम पर कम निर्भर करता है, परिवार की पूर्व-सम्पन्नता, समाज की आर्थिक परिस्थितियों और दुनिया की घटनाओं पर अधिक। अक्सर पैसा और साख पैसे को कमाते हैं। यह हाल सत्ता या पद तथा डिग्रियों और शिक्षा का है। सम्पन्न तथा शिक्षित परिवारों के कुमारों तथा तरुणों को इन सब में इतनी प्राथमिकता मिल जाती है कि सामान्य जन उनके मुकाबले में खड़े हो ही नहीं पाते। परिणाम यह होता है कि धन, सत्ता और आज की शिक्षा जिन परिवारों को पहले से मिली होती है, उनके बालकों को ही इस दिशा में आगे बढ़ने के अवसर मिलते हैं और बाकी लोगों में से बहुत ही थोड़े इस होड़ में आगे आपाते हैं।

ये सारे पैमाने समाज में वर्ग-भेद कायम करने और उन्हें बढ़ानेवाले हैं अतः कार्यकर्ता के लिये ये सफलता के मान्य पैमाने

नहीं हो सकते बल्कि कार्यकर्ता को इन पैमानो को ठुकरा ही देना होगा। कार्यकर्ता समाज क्रांति की दिशा मे आगे बढना चाहता है और ये पैमाने समाज की विषमता पूर्ण स्थिति को कायम रखने और उसे बल देनेवाले है। समाज क्रांति मे लगने वाला कार्यकर्ता न तो धन का उपार्जन और सग्रह किसी भी उल्लेखनीय पैमाने पर कर सकता है, न कोई ऊचा पद, सत्ता या अधिकार प्राप्त कर सकता है और न कोई तथाकथित ऊचा शिक्षण ही।

तब फिर कार्यकर्ता की सफलता असफलता के पैमाने क्या हों?

जन आधारित सेवाकार्य

पहला पैमाना कार्यकर्ता की सेवा की गुणवत्ता का है। जिस सेवा कार्य में त्याग, तपस्या और साहसिकता जितनी अधिक है, उतना ही सेवा कार्य अधिक महत्वपूर्ण तथा कार्यकर्ता की सफलता का द्योतक है। वेतन शृंखला, पेंशन आदि सुरक्षाओं से युक्त सरकारी सेवा-कार्य के मुकाबले मे सीमित निर्वाह-व्यय युक्त सस्थागत सेवाकार्य अधिक महत्वपूर्ण है और सस्थागत सेवाकार्य के मुकाबले मे मुक्त तथा जन आधारित सेवाकार्य अधिक सम्मानीय है। इसमे जिसने जितना अधिक त्याग किया, जितना अधिक समय लगाया, जितनी अधिक तपस्या की, जितना अधिक ज्ञान प्राप्त किया, उतनी ही अधिक उसकी सफलता मानी जायगी।

प्रामाणिक जीवन

दूसरा पैमाना कार्यकर्ता के जीवन की विशुद्धता का है। उसका व्यक्तिगत, पारिवारिक और सामाजिक जीवन कितना व्यवस्थित है, सरल है और स्वस्थ है, इससे उसकी सफलता असफलता मापी जायगी। जिस कार्यकर्ता का अपना रहन-सहन, खान-पान, पहनाव-ओढाव, शुद्ध सात्विक, सादा नहीं है, पारिवारिक जीवन मे जिसके विचार और व्यवहार की छाप नहीं है, जिसके चारों ओर के

सामाजिक जीवन के संशोधन में प्रभाव नहीं है, उसे बहुत सफल कार्यकर्ता नहीं कहा जायगा, उसके जीवन का एक महत्वपूर्ण अंग विकसित नहीं हो सका, यही माना जायगा।

नैतिक गुण

सफलता का तीसरा पैमाना कार्यकर्ता में नैतिकता के गुणों के-उनके व्यक्तिगत और सामाजिक दोनों पहलुओं के विकास का है। कार्यकर्ता में सत्य, प्रेम और करुणा का कितना विकास हुआ है, उसके व्यक्तिगत जीवन में ये गुण कहा तक बढे है, उसके व्यक्तिगत आचरण और सामूहिक व्यवहार में ये कहा तक प्रतिबिम्बित है, उसी हद तक उसकी सफलता मानी जायगी।

चरम कसौटी

कार्यकर्ता का दिल इस बात से नहीं टूटेगा कि उससे कम योग्यता और क्षमतावाले लोगों के पास उससे अधिक संपत्ति, अधिकार और शिक्षण है, उसकी आर्थिक स्थिति कठिनता पूर्ण है, उसके परिवार के लोगों के पास भौतिक साधन, सुख-सुविधायें अन्य लोगों से कम हैं, कमजोरी, बुढापे और बीमारी की स्थिति में उसकी कठिनाइयां बढ सकती है बल्कि उसके मन में यह गौरव रहेगा कि वह सामान्य मनुष्य की तरह खाने-पीने, सोने, संतति बढाने और भयभीत तथा चिन्तित रहने के लिये पैदा नहीं हुआ है, बल्कि उसने उच्च, नैतिक और सामाजिक आदर्श की सिद्धि के लिये केवल भौतिक जीवन से ऊपर उठने की साधना की है, वही साधना उसे जीवन भर करनी है, अन्य जीवन मिले तो भी वह यही करना चाहेगा। निजी तथा वर्तमान भौतिक सुख-सुविधाओं से आगे के आदर्श के प्रति निष्ठा, इसके लिये निरन्तर प्रयत्न करने की साध तथा इससे प्राप्त आत्म-सतोष और सुख यही कार्यकर्ता की सफलता की चरम कसौटी है। इसी पर वह अपने आपको कसे।

: १८ :

समाज-सेवा का सातत्य

पहले यह समझा जाता था कि क्राति कोई ऐसा तुरन्त हो जाने वाला परिवर्तन है जो एक ही झोके मे परिपूर्ण हो जायगा। वह कोई ऐसा जबर्दस्त तूफान है, जो आया और निकल गया और फिर शाति व सुख प्राप्त हो जायगा। लेकिन रूसी क्राति और भारतीय स्वाधीनता के बाद यह स्पष्ट होगया है कि समाज मे ऐसी तुरत की क्राति नहीं हो सकती। उसके लिये पीढियो तक लगातार प्रयत्न करना होता है और अगर वह क्राति शातिपूर्वक उपायो से ही सपन्न हो तो वह क्राति धीरे-धीरे ही होगी। आज राज्य की विनाशकारी शक्ति इतनी बढ़ गई है कि जब तक सेना और पुलिस ही क्रातिकारियों की सहायक न बन जाय, तब तक राज्य-सत्ता मे परिवर्तन भी कठिन है और यह कहना भी असभव ही है कि इस प्रकार का परिवर्तन, अगर हो भी जाय तो वह किसी नये सामाजिक मूल्यों की स्थापना करनेवाला भी हो सकेगा या नहीं? इसलिये आज राज्य-सत्ता परिवर्तन की प्रक्रिया भी सामान्यत बहुत जल्दी नहीं हो सकती और समाज के मूल्यों मे परिवर्तन भी धीरे धीरे जन जागृति की व्यापकता और उसकी सक्रियता तथा सबलता के साथ ही हो पायगा। इसका अर्थ यह है कि क्रातिकारी कार्यकर्ताओ की आवश्यकता समाज को आगे बढाने के लिये बराबर रहेगी। आज ऐसे समय की कल्पना करना ही असभव लगता है, जब कार्यकर्ताओं के सामने क्राति के सुफल

लाने के अलावा और कोई कार्यक्रम नहीं रहेगा। इसका अर्थ यह है कि वर्तमान मानव समाज में समाज परिवर्तन और समाजोन्नति के लिये कार्यकर्ताओं की आवश्यकता निरंतर रहनेवाली है, बढ़ती जानेवाली है, अतः समाज को कार्यकर्ताओं का प्रवाह निरंतर प्राप्त होता रहे यह समाज-जीवन और समाज-रचना का ही स्थायी अंग होना चाहिये।

जीवन साधना

इसका अर्थ यह हुआ कि मानव-समाज के सामने जीवन का उद्देश्य होना चाहिये। उक्त उद्देश्य की पूर्ति में मनुष्य को कृतार्थता का अनुभव होना चाहिये और वह पूर्ति ही उसकी जीवन-व्यापी साधना होनी चाहिये। वह उद्देश्य एक ही हो सकता है और वह है जिस मानव-समाज के बीच मनुष्य का जन्म हुआ है और जीवन चलता है उसकी समग्र उन्नति ही उसके जीवन का एक मात्र ध्येय हो सकता है और उसकी पूर्ति की साधना में ही उसका अपना अधिक से अधिक विकास और समृद्धि हो सकती है। तब मानव का सारा जीवन एक तरह से इस लक्ष्य की पूर्ति की ओर बढ़ते जाने की तैयारी और प्रगति ही होजाता है। हरेक कदम उस साध्य की ओर बढ़ने का साधन भी है और उस साध्य की प्राप्ति का एक अंश भी है।

तब मानव की बाल्य तथा कुमार अवस्थायें उस साध्य की ओर बढ़ने लायक बनने की तैयारी की सबसे श्रेष्ठ अवस्थायें हैं, जिनमें उसे अपनी सारी शक्तियां अनुभव, मार्गदर्शन में केन्द्रित कर साधना के लिये तैयार होना चाहिये। यह समय उसकी समग्र शक्तियों के संतुलित और समन्वित विकास का है।

अवस्था-क्रम

तरुणाई के आरंभ के साथ-साथ तरुण-तरुणियों को सम्मि-

लित होकर अपने धारण-पोषण और समाज-सेवा के काम मे लगना चाहिये। उसीमे से उसके स्वाभाविक सहजीवन का विकास होना चाहिये और समाज-सेवा की जो मशाल उन्होंने अपनी तरुणाई मे अपने बुजुर्गो के हाथों से ली थी उसे लेनेवाले अवतरित होंगे। हमारा मानना है कि बीस से पच्चीस वर्ष तक की अवस्था पुरुष और स्त्री के लिये तैयारी के जीवन को समाप्त कर सहजीवन को आरंभ करने की होनी चाहिये। तीस से पैंतीस वर्ष तक की अवस्था सन्तान-मर्यादा की अवस्था है। उसके बाद संतान नहीं होनी चाहिये। पैंतालीस से पचास वर्ष तक की अवस्था अपनी सम्हाल मे अपनी संतान को समाज सेवा मे मदद देने की होनी चाहिये।

पचास वर्ष की अवस्था तक संतान स्वयं बालिग होकर बीस पचीस वर्ष की अवस्था के निकट पहुच जायगी और वह सहजीवन आरंभ करने के लायक बन जायगी। इस अवस्था मे पति और पत्नी को अपना घर छोडकर अपनी रुचि और तैयारी की सामाजिक संस्था मे साथ-साथ या अकेले-अकेले चले जाना चाहिये और पूरा समय और शक्ति उस संस्था की समृद्धि मे लगाना चाहिये। समाज की सारी सार्वजनिक संस्थाओं का संचालन इन लोगों के हाथ मे होना चाहिये। इस अवस्था के पहले के लोग कृषि, उद्योग, खनिज आदि किसी न किसी उत्पादक-उद्योग के सामाजिक कार्य मे लगने चाहिये और इस अवस्था के बाद के समाज-सेवा मे। पहली अवस्था के लोग उत्पादक उद्योग द्वारा अपना और समाज-सेवकों का धारण-पोषण करे और दूसरी अवस्था के लोग समाज का शिक्षण और सेवा करे।

समाज-सेवकों की भी दो श्रेणिया हो सकती है। एक आरंभिक स्थिति, इसमें समाज सेवक एक संस्था मे रहकर ही दस-पाच वर्ष स्थिर सेवा करेगा। परिवार के बंधनो को तोड़कर वह संस्था

तक अपने कार्य तथा सहानुभूति के क्षेत्र को व्यापक बनायगा और समाज-सेवा के कार्य मे अपनी चित्तवृत्ति को लगायगा। इसके बाद दूसरी स्थिति मे–साठ-पैसठ वर्ष की आयु मे, इस समय उसकी शरीर श्रम की स्थिति निर्बल होती जायगी, तो वह एक सस्था के बधन से भी अपने आपको मुक्त कर लेगा और मुक्त विचरन करता हुआ एक सस्था से दूसरी सस्था और एक स्थान से दूसरे स्थान पर जायगा और अनुभव का लाभ समाज को पहुँचायगा। और स्वय भी अपने विचार और व्यवहार दोनों मे समाज जितना व्यापक बन जायगा। इस प्रकार समाज मे व्यक्ति की निष्ठा परिवार मे परिपक्व होकर सस्था-व्यापी बनेगी, सस्था मे परिपक्व होकर समाजव्यापी या विश्व-व्यापी बनेगी। विश्व-व्यापी निष्ठा का ही दूसरा नाम आत्मनिष्ठा है। इस प्रकार व्यक्ति समाज की जिम्मेदारी उठायगा, फिर समाज की सेवा करेगा और उसी में अपने आपको विलीन कर देगा। समाज-धारण और समाज-सेवा का यह क्रम निरतर चलता रहेगा तो स्थिरता और गतिशीलता दोनों का समन्वय होगा और जैसे धरती अपनी धुरी पर घूमती हुई सूर्य की प्रदक्षिणा करती है, वैसे ही मनुष्य अपना विकास करते हुए समाज को समृद्ध करेगा। इस प्रकार हिसा-अहिसा, क्राति-राहत, विचार और व्यवहार, सेवा और कर्म—सब का समन्वय एक ही तत्त्व मे हो जाता है, जिसे हम आज की परिभाषा में समाजी तत्त्व कहते है। पुरानी परिभाषा मे आस्तिक लोग इसे ईश्वर-तत्त्व कहते है और आध्यात्मिक लोग आत्म-तत्त्व। इस समाज-तत्त्व की उतरोत्तर सिद्धि ही मानव व समाज के जीवन का लक्ष्य है और वही इसकी साधना है।

हमारे कुछ प्रकाशन

१	समाजवाद और सर्वोदय (प्रेमनारायन माथुर)	मूल्य ०–२०
२	अहिंसा के आचार और विचार का विकास (प्रज्ञाचक्षु पं० सुखलाल)	मूल्य ०–१०
३	राजनीति और लोकनीति (धीरेन्द्र मजूमदार)	मूल्य ०–१०
४	लोकनीति के मूलतत्त्व (दादा धर्माधिकारी)	मूल्य ०–३५
५	बालजीवन की करुणता और हमारा कर्तव्य (काशिनाथ त्रिवेदी)	मूल्य ०–१५
६	संत तुकाराम (वृन्दा अभ्यंकर)	मूल्य ०–७५

राजस्थान खादी संघ

पो० खादीबाग (जयपुर)